उत्तर प्रदेश की लोक–विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान

जूनियर फेलोशिप की प्रथम रिपोर्ट
(१ जनवरी २०१६ से ३० जून २०१६)

सोनी कुमार गुप्ता

फाईल नं0– CCRT/JF-3/30/2015

पत्र संख्या – CCRT/JF-3/30/2015/31225

Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts

Sub Field:- Folk Theatre

36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli

Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India

: 7668220333

Email Id: sonikumar05@gmail.com

सेवा में,

निदेशक,
सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (CCRT)
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली।

विषय :— जूनियर फेलोशिप की प्रथम रिपोर्ट के सम्बन्ध में

संदर्भ — फाईल नं. —CCRT/JF-3/30/2015

महोदय,

मैं सोनी कुमार गुप्ता आपके सुलभ संदर्भ हेतु अपनी कनिष्ठ अध्येतावृत्ति **''उत्तर प्रदेश की लोक विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान''** की प्रथम छमाही की रिपोर्ट प्रेषित कर रहा हूँ जो कि 1 जनवरी 2016 से 30 जून 2016 के मध्य तैयार की गयी है।

आपसे विनम्र निवेदन है कि प्रथम छमाही का भुगतान अतिशीध्र करने की कृपा करें।

धन्यवाद!

आपका आज्ञाकारी

(सोनी कुमार गुप्ता)
फाईल नं0—CCRT/JF-3/30/2015
पत्र संख्या —CCRT/JF-3/30/2015/31225
Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts
Sub Field:- Folk Theatre
36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli
Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India
Mob: 7668220333
Email Id: sonikumar05@gmail.com

अभिस्वीकृति

संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार द्वारा मुझे लोक–नाट्य के क्षेत्र में 'उत्तर प्रदेश के लोक–नाटयों का राष्ट्र के चरित्र–निर्माण' पर शोध करने के लिए जूनियर फेलोशिप प्रदान की गयी जिसके लिए मैं संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार का आभार प्रकट करता हूँ।

मैं पिछले 14 वर्षों से रंग–मंच से जुड़ा हूँ, जहाँ रंग–मंच के विभिन्न शैलियों पर कार्य करने का अनुभव प्राप्त हुआ है वहीं लोक–नाट्य से मेरा सामना हुआ, लोक–नाट्य पर कार्य करते हुए मुझे यहा ज्ञात हुआ कि ये एक सशक्त विधा जिससे दर्शक सीधे जुड़ता है और इस विधा में उसकी अपनी गाँव की मिट्टी की खुशबू दिखाई देती है। ऐसे ही मेरा उत्तर प्रदेश के विभिन्न लोक–नाट्यों से परिचय हुआ। जो कि समाज में फैली कुरितियाँ, विसंगतियां व अध्यात्म से जुड़ी कहानियों को मंच पर प्रस्तुत कर एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर लोक नाट्य अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराती है।

तत्पश्चात् अपनी रंगमंचीय यात्रा के पड़ाओं पर ऐसा भी समय आया जब मेरा भारत के विभिन्न लोक नाट्यों से परिचय हुआ। मैं ऐसे कई आयोजनों में गया जहाँ भारत के प्रत्येक राज्य के विभिन्न लोक–नाट्यों का समागम देखने को मिला। मैं हतप्रभ था कि ऐसे लोक–नाट्यों को देखकर

जो दर्शकों के दिलों–दिमाग में अमिट छाप छोड़ जायें। उनमें से कुछ ऐसे लोक नाट्य थे जो वाकई अपने शिल्प से अद्भुत् थे, परन्तु यही एक बात जो मुझे कचोटने लगी कि इन लोक नाट्यों में उत्तर प्रदेश का प्रत्यनिधित्व नौटंकी करती है, चूंकि मैं उत्तर प्रदेश का हूँ रंग–मंच व लोक–नाट्यों पर काम कर रहा हूँ तब मेरी नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि उत्तर प्रदेश के लोक–नाट्य (नौटंकी) के बारे में अध्ययन करुँ और नौटंकी से राष्ट्र–निर्माण कैसे निर्वाहित हो सके, इस लिए मैंने लोक–नाट्य के बारे में अधिक जानकारी एकत्रित कर संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार से जूनियर फेलोशिप में अपना विषय रखा।

मैंने शोध का विषय रखा उत्तर प्रदेश के लोक–नाट्यों का राष्ट्र एवं चरित्र–निर्माण में योगदान

हांलाकि मेरा शोध का विषय काफी विस्तृत है जिससे मेरा शोध चुनौतिपूर्ण हो जाता है।

उत्तर प्रदेश की लोक–नाट्य (नौटंकी)

हर देश और काल में लोक–नाटक लोक–रंजन का सबल साधन रहे हैं। उनमें नवजीवन की अनुभूतियाँ होने के कारण वे अत्यन्त मार्मिक एवं मानस को आन्दोलित–उद्वेलित करने में समर्थ होते है। लोक–नाटकों का मूल आधार नृत्य और संगीत है। लोक धर्मी होने के नाते उनमें शिल्प की प्रौढ़ता और अभिव्यंजना का उत्कर्ष भले न हो पर सरलता और सरसता के बल पर ही वे दर्शको को दस–ग्यारह बजे रात से सूर्योदय तक बाँधे रखते हैं।

नौटंकी उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय है। इसे स्वाँग, सांगीत और भगत भी कहते हैं। सदियों से नौटंकी ग्रामीण जनता का मनोरंजन करती आ रही है। श्रृंगारपूर्ण कथानक, लोकप्रिय छन्द, सरल भाषा और लोक–धुनों पर आधारित संगीत के कारण नौटंकी का नगाड़ा मनोरंजन का प्रतीक बन गया है। नगाड़े की आवाज सुनते ही लोग कोसों चलकर नौटंकी देखने आते हैं और रात–रातभर जागकर अभिनेताओं के अनगढ़–सहज अभिनय का आनन्द लेते हैं।

नौटंकी का उदय

नौटंकी का उदय कब और कैसे हुआ, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। प्रसादजी ने नौटंकी को 'नाटकी' का अपभ्रंश माना है। उन्होने लिखा है– ''मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण मुकुन्दानन्द और रस सदन आदि की परम्परा है और नाटकी की अधिकता प्राचीन राग–काव्य अथवा गीत–नाट्य की स्मृतियाँ हैं।'' प्रसादजी सट्टक को नौटंकी की तरह ही लौकिक तमाशा मानते है। डा0 हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है। नौटंकी की भाषा में उर्दू का बाहुल्य देखकर डा0 रामबाबू सक्सेना नौटंकी का प्रारम्भ उर्दू कविता और लोक गीतों से मानते है। श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' भी 'हीर राँझा' की कथा को सर्वप्रथम नौटंकी मानते हैं।

नौटंकी के जन्मदाताओं में मल्ल, रावत और रंगा के नाम लिए जाते हैं। मल्ल जाट, रावत राजपूत और रंगा जुलाहा था। यह लोग ढोलक बजाकर नौटंकी का अभिनय करते थे। अब ढोलक का स्थान नगाड़े ने ले लिया है परन्तु रंगा का नाम आज भी नौटंकी के साथ जुड़ा हुआ है ।

आधुनिक नौटंकी–लेखकों में हाथरस के पं0 नथाराम शर्मा गौड़, कन्नौज के त्रिमोहन (तिरमोहन), कानपुर के श्रीकृष्ण पहलवान के नाम लिये

जा सकते हैं। त्रिमोहन और नम्बरदार की मंडलिया कानपुर और फर्रूखाबाद के क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय है। पहले त्रिमोहन स्वयं नगाड़ा बजाते थे। कहते है कि उनका नगाड़ा सुनकर अनेक स्त्रियों के गर्भ गिर गए, इसीलिए उन्होनें नगाड़ा बजाना बन्द कर दिया।

नौटंकी का शिल्प

अन्य लोक–नाटकों की भाँति नौटंकी का शिल्प भी रूढ़िगत है। प्रारम्भ में मंगलाचरण का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार सूत्रधार (रंगा) की अवतारणा भी अवर्श्यभावी है। नौटंकी के शिल्प में नाटकीय तत्वों को खोजने का प्रयास व्यर्थ है। ढीला–ढाला कथानक होता है जिसका निर्वाह भी लेखक मन चाहे ढंग से करता है। संकलन–त्रय की कल्पना करना ही भारी भूल है। प्रवेश और प्रस्थान के भी कोई नियम नहीं। नौटंकी का शिल्प शास्त्र सम्मत नाट्य–शिल्प न होकर सर्वथा लोक–शिल्प है। जिसका अनगढ़पन ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

नौटंकी का कथानक

प्रारम्भ में नौटंकी का क्षेत्र धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों तथा श्रृंगारी प्रेमाख्यानों तक ही सीमित था। बाद में कुछ साहसिक कथानक भी लिये गए। अब तो भक्त ध्रुव, भक्त प्रहलाद, गोपीचन्द्र, भक्त पूरनमल, राजा भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, अमरसिंह राठौर, सम्राट अशोक, टीपू सुल्तान, आदि धार्मिक, लौकिक और ऐतिहासिक गाथाओं, शीरी–फरिहाद, लैला–मजनूं, सोनी–महिवाल, लालारूख, प्रेम कुमारी, जवानी का नशा आदि श्रृंगार–प्रधान प्रेम–कथाओं तथा सुल्ताना डाकू, डाकू बहराम आदि साहसिक कहानियों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक एवं राष्ट्रीय नौटंकियाँ भी लिखी जाने लगी है। अन्धी दुल्हन, परिवर्तन, किसान–कन्या, गरीब किसान, बेटी का सौदा आदि श्री कृष्ण पहलवान की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अन्य लेखकों ने भी समय की पुकार सुनकर अनेक प्रेरक नौटंकियाँ लिखी है। एक ही कथानक पर अनेक लेखकों ने क़लम उठाई है। फलस्वरूप हम कथानकों से भली प्रकार परिचित होते है। वे कथा की अपेक्षा संगीत में अधिक रस लेते हैं।

नौटंकी की भाषा और संवाद

नौटंकी की भाषा हमारी साहित्यिक भाषा से सर्वथा भिन्न है। नौटंकी लेखक यह कभी नहीं भूलता कि उसकी रचना जनता के बीच प्रदर्शित होगी। इसीलिए वह बोलचाल की भाषा का प्रयोग करता है। उसकी भाषा में स्थानीय रंग खूब रहता है। इसी प्रकार संवादों में भी सादगी होती है। मंच व रूपसज्जा के चक्कर में नौटंकी–लेखक नहीं पड़ता है। वह सीधी–सादी बात सीधे–सादे ढंग से कहता है संवाद पद् मय होते है। अतः श्रोताओं को अधिक प्रभावित करते है और श्रोता बड़ी सरलता से भावों को ग्रहण कर लेते हैं। उन्हे संगीत और लोक–काव्य दोनो का आनन्द मिलता है। नौटंकी के प्रिय छन्द है– बहरेतबील, आल्हा, लावनी, दोहा, गजल, भजन, चौबोला आदि। कही–कही पर गद्य का भी प्रयोग होता है; यह प्रयोग या तो विदूषक के द्वारा होता है या फिर साधारण प्रश्नोत्तर के समय लेकिन यह गद्य भी पद् मय होता है।

नौटंकी के पात्र

नौटंकी के पात्र हमारे जाने–पहचाने होते हैं। ऐतिहासिक, पौराणिक या आधुनिक पात्रों का ढाँचा एक–सा ही होता है। अर्जुन, अमरसिंह, मजनूं और सुल्ताना डाकू के अभिनय में भी एकरूपता होती है। महाराजा हरिश्चन्द्र भी अभिनय करते–करते बीडी का कश मार लेते है; सीता और शैव्या भी संवाद बोलकर नाचती है– कमर मटकाकर साधारण बेड़िनों की तरह। वीर अर्जुन भी दर्शकों को हँसाने के ध्येय से कभी–कभी विदूषक बन जाता है पात्रों पर कोई अंकुश नहीं, कोई बन्धन नहीं, उन्हे अभिनय की पूरी स्वतन्त्रता रहती है।

नौटंकी में हास्य

हर नौटंकी में हास्य का बाहुल्य होता है। विदूषक अपनी चेष्टाओं अटपटे संवादों से दर्शकों को हँसाता भी है और सामाजिक कुरितियों अथवा अत्याचारों पर व्यंग्य भी करता है। कभी–कभी मुख्य कथा के साथ एक हास्य जोड़ दिया जाता है। नौटंकी का हास्य बहुत भोंडा, अशिष्ट और कभी–कभी अश्लील भी होता था।

नौटंकी में संगीत–योजना

छन्दों के अनुसार ही संगीत–योजना की जाती है। लोक–धुनों का प्रयोग खुलकर किया जाता है। संगीत नौटंकी की जान है। नौटंकी का प्रमुख वाद्य है नगाड़ा। कुछ मंडलियाँ ढोलक और हारमोनियम का भी प्रयोग करती है। संगीत की शैली पर आँचलिकता का प्रभाव रहता है। स्थानीय संगीत पद्धतियाँ तत्काल जोड़ दी जाती हैं। नौटंकी के संगीतज्ञों और कलाकारों का लचीलापन उन्हें हर क्षेत्र में समान सफलता और लोकप्रियता प्रदान करता है।

नौटंकी का मंच

नौटंकी के अभिनय के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं। किसी भी खुली जगह पर तख्त डाल दिए, जाते है। प्रकाश के लिए चारों कोनों पर गैस के हण्डे टाँग दिए जाते है। एक ओर नगाड़े वाला बैठता है। वहीं अवकाश के समय पात्र भी बैठते है और अपनी थकान मिटाने के लिए बीड़ी पीते हैं। कभी–कभी कमर सीधी करने के लिए लेट भी जाते है। तख्त के बीच में अभिनय होता है। चारों ओर दर्शक बैठते हैं। पात्र घूम–घूमकर संवाद बोलते हैं ताकि हर दिशा के लोग संवाद सुन सकें। यहीं खुले मंच राजा का महल भी है और ग़रीब की झोंपड़ी भी; रनिवास भी है

और रण क्षेत्र भी; चहल–पहल से पूर्ण नगर भी है और निर्जनवन भी; जमींदार की हवेली भी है, किसान का खेत भी! न पदों की जरूरत, न सेटों की। दृश्य–परिवर्तन के लिए यवनिका भी आवश्यक नहीं है। अभिनय करने वाले पात्र बैठ जाते है; नये पात्र उठकर संवाद बोलने लगते है। बस, नया दृश्य शुरू हो गया। दर्शक महल से झोंपड़ी में पहुँच गए।

इस प्रकार का सीधा और सरल मंच ही नौटंकी का परम्परागत मंच है। पर आधुनिकता से प्रभावित होकर कुछ मंडलियाँ पदों का प्रयोग भी करने लगी है। त्रिमोहन की मंडली इस दिशा में अग्रणी है।

पात्रों की रूप–सज्जा

नौटंकी के पात्रों की रूप–सज्जा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता! पुरूष पात्र चेहरे पर हल्का–सा पाउडर लगा लेते है। लड़कियाँ लाली और काजल का भी प्रयोग करती है। भूमिका के अनुरूप रूप–सज्जा की प्रणाली का सर्वथा अभाव है। अमर सिंह या सुल्ताना डाकू अथवा सती, सीता या वैश्या की रूप–सज्जा में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। हाँ, वस्त्र अवश्य भड़कीले होते है। रूप–सज्जा यथार्थवादी न होकर सांकेतिक अधिक होती है। नौटंकी के दर्शक भी इस सांकेतिक प्रणाली से हर प्रकार परिचित होते है।

अभिनय–शैली

नौटंकी की अभिनय–शैली भी यथार्थ न होकर सांकेतिक अधिक है। हर पात्र का अभिनय रूढ़िगत होता है। मनो–भावों को प्रकट करने के लिए चेहरे पर उतार–चढ़ाव की बारीकियों अथवा सूक्ष्म अभिव्यक्तियों की यहाँ तनिक भी गुंजाइश नहीं। नौटंकी न तो सिनेमा है और न नाटक । हजारों की संख्या में उपस्थित दर्शकों तक अपनी आवाज पहुँचाना ही अभिनेताओं का प्रमुख ध्येय है। इसलिए ये अपने संवाद ऊँचे स्वर में बोलते है। उनके लिए जोशीले या ओजपूर्ण और करूण या कोमल संवादों में कोई अन्तर नहीं। उनका स्वर सदैव एक–सा रहता है। सूक्ष्म भाव–भंगिमाओं के स्थान पर वे हाथों की गति से काम चलाते हैं इस प्रकार नौटंकी में वाचिक और आंगिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है।

निष्कर्ष

फ़िल्म और टेलीविजन के युग में भी नौटंकी का अनगढ़, सरल और अकृत्रिम मंच पूर्णरूप से प्राणवान है। आज भी अनगिनत मंडलियाँ घूम–घूमकर अपने स्वाँगों का प्रदर्शन करती रहती हैं और लोग बड़े उत्साह के साथ दूर–दूर से उनके तमाशे देखने के लिए एकत्र होते है। लोक–मानस में अब भी लोक–नाटकों की गहरी पैठ है। यह बड़े दुख की बात है कि

लोक–संस्कृति के नाम पर हम लोक–नृत्य और लोक–संगीत को तो महत्व देने लगे हैं, परन्तु लोक–नाटकों की ओर हमारा ध्यान अब भी नहीं गया है। हमारे नाटककार अब भी नौटंकी के नाम से चिढ़ते हैं, नाक–भौं सिकोड़ते हैं। शायद वे यह भूल जाते हैं कि जनता–जनार्दन के बीच जितना जीवन्त मंच लोक–नाटकों का है उतना उनके द्वारा लिखित साहित्यिक नाटकों का नहीं। आज हम नाट्य–आन्दोलन और राष्ट्रीय मंच के निर्माण की बात करते हैं! लेकिन लोक–मंच की अवहेलना करके न तो हमारा नाट्य–आन्दोलन पूर्ण हो सकता है और न राष्ट्रीय मंच की ही स्थापना हो सकती है। हमारे नाटककारों को चाहिए कि वे लोक–नाटकों की मंडलियों से सम्पर्क स्थापित करें और विविध शैलियों का अध्ययन करके उन्हीं शैलियों में नये उत्कृष्ट नाटक लिखें। तभी उनकी रचनाएँ चारदीवारी से निकलकर लोक–मानस में पैठ बना सकेंगी और लोक–मंच भी केवल मनोरंजन का माध्यम न रहकर नये जागरण और निर्माण का प्रतीक बन सकेगा।

नौटंकी के प्रमुख वाद्य यंत्र

नक्कारा

ढोलक

हारमोनियम

नौटंकी का योगदान

उत्तर प्रदेश का लोकप्रिय लोक नाट्य नौटंकी समस्त उत्तर और मध्य भारत ही नहीं वरन् सुदूर उत्तर–पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम के सभी राज्यों के लोक नाट्यों के प्रस्तुतिकरण को ही नहीं प्रभावित किया बल्कि कथावस्तु के स्तर पर भी उनकों समृद्धि प्रदान किया। नौटंकी का उदय संगीतकों की महान् परम्परा को क्रम में रखने और सूक्ष्मता से अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका उद्देश्य जनमानस को शिक्षित करना चरित्र निर्माण पर बल देते हुए राष्ट्र की मर्यादाओं और परम्पराओं के अनुरूप ढलने और ढालने का रहा होगा।

उक्त 'उक्ति' के समर्थन में मैं आपका नौटंकी के शुरूआत के विषयवस्तु और कथानकों की ओर ध्यान आकृष्ठ करना चाहूँगा और उदाहरण के तौर पर कुछ नाम गिनाना चाहूँगा..... सत्य हरिश्चन्द्र, भक्त पूरन मल, राजा भरथरी, भक्त प्रहलाद, कृष्ण सुदामा तथा रामायण के लगभग सभी खण्ड। इन पौराणिक नौटंकियों की धारा वही है जो दक्षिण के ''भागवत मेल'' की है। आसाम की ''अंकियाँ नाट्'' या कोंकण की 'दशावतार' या राजस्थानी 'रम्मत'' या हरियाणवी 'सांग' या पूरब के 'मैथली' नाटक की।

आधुनिकता के इस दौर में भी हमारे लोक नाट्यों पर कोई असर नहीं पड़ा है। वर्तमान समय में लोक नाट्य नौटंकी को कहानी सम्राट प्रेम चन्द की कहानियों को नौटंकी रुपान्तरण कर भदोही के राजकुमार श्रीवास्तव जी ने प्रेम चन्द की कहानी 'पूस की रात', 'बूढ़ी काकी', 'कफ़न', 'फ़ातिहा' व आदम गोंडवी जी की कविता सरजूपार की मोनालिशा का भी नौटंकी रुपान्तरण कर आम जनमानस में राष्ट्र के निर्माण में सफल योगदान देते आ रहें हैं।

नौटंकी का पतन या राह से भटकना तो अभी हाल के चार–पाँच दशकों की बात है लेकिन अगर नौटंकी को हाथरस और कानुपर घराना के माध्यम से देखे तो ऐसे सशक्त अभिनय प्रधान, अनुशासित और लेखनीय के अविरल प्रवाह का घराना है जहाँ आज भी नित्य नई–नई नौटंकियाँ सामाजिक विषयों पर निरन्तर रची, गढ़ी और खेली जा रही है। वहीं इलाहाबाद में जिसने देश को यह राह दिखाई थी कि कैसे नौटंकी सशक्त, उच्च सम्प्रेषणयुक्त तकनीक से सजी–सवरी नौटंकी कैसे स्वाधीनता संग्राम को जन आंदोलन में बदल रही थी। निःसंदेह इलाहाबादी नौटंकी के जनक लाला कल्यान चन्द्र और उनके शिष्य पं0 रामराज त्रिपाठी जी ने एक ऐसे माध्यम को दृष्टिकोण परिवर्तन, चरित्र निर्माण एवं जागरुकता का माध्यम बना

दिया था जिसे अन्य क्षेत्र के नौटंकी कलाकार नाच का माध्यम बना करके नौटंकी को मात्र रोज़ी–रोटी का साधन मान बैठे है।

इतिहास और विकास

अधिकतर समीक्षकों का मानना है कि नौटंकी स्वांग शैली का एक विकसित रूप है। नौटंकी की कथा अकसर किसी व्यक्ति या महत्वपूर्ण विषय पर होती है। मसलन आला–उधल की नौटंकी इसी तरह डाकू सुल्ताना की नौटंकी इसी नाम के उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में डाकू की कहानी का एक वास्तविक कथानक नज़र आता है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान आज़ादी की अलख जगाने के विषयों पर बहुत सी नौटंकियाँ हुई जिन्होने जन साधारण को इस संग्राम में शामिल होने की प्रेरणा दी आज कल दहेज कुप्रथा आतंकवाद और सम्प्रदायिक लड़ाई झगड़ों के विरूद्ध नौटंकियाँ देखी जा सकती है दर्शकों की रूचि बनाये रखने के लिए नौटंकियों में अकसर श्रृंगार रस के भी कुछ तत्व होते हैं। पारम्परिक रूप से नौटंकियों में पैसा बनाने के लिए यह जरूरी था कि दर्शकों को कभी भी ऊबनें न दिया जाये इसलिए अधिकतर नौटंकियाँ आधुनिक समय में एक घण्टे से डेढ़ घण्टे की अवधि की घटनाओं को एक सिलसिले में जोड़ कर बनायी जाती है। जिसमें हर भाग में दर्शकों की रूचि बनाये रखने की कोशिश की जाती है। कहानी दिलचस्प बनाने रखने के लिए वीरता, प्रेम, मज़ाक, गाने–नाचने और

कथाकार प्रयास करता है कि दर्शकों की भावनायें लगातार ऊपर नीचे हों और बदलती रहें।

स्वतंत्रता संग्राम में नौटंकी का योगदान

आज़ादी की लड़ाई में कानपुर का महत्वपूर्ण योगदान रहा राजेन्द्र सभागार कानपुर में नौटंकी कलाकारों ने स्वंत्रता संग्राम की लड़ाई से जुड़ने के लिए एक नौटंकी 'सोन चिरैया' का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उस दौरान भी शीलू राजपूत ने आज़ादी की लड़ाई में तात्या टोप, लक्ष्मीबाई, नाना साहब, चन्द्र शेखर आज़ाद, जलिया वाला बाग, महात्मा गाँधी के योगदानों को आल्हा कि शैली में ऐसा गाया कि समा बंध गया।

मैंने आगे भी लिखा है कि पूरे भारत में धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण मन्दिरों तथा घरों में भजन–कीर्तन होते रहे है इसी भजन–कीर्तन से रास लीला और राम लीला का उद्‌भव हुआ। मध्यकाल में यह भजन–कीर्तन भगत परंपरा के नाम से अत्याधिक विकसित हुआ। भगत के साथ 'बहुरूपिया' के कलाकार विविध रूप और वेश धारण करके राजा और प्रजा का मनोरंजन किया करते थे और पुरस्कार से अपना जीविकोपार्जन करते थे। बहुत से राजा उन्हे रहने, कृषि कार्य हेतु भूमि और भवन भी दान देते थे। जब मंदिरों में इन कलाकारों की प्रस्तुतियाँ होने लगी तब ये भगत लीला के कलाकार

कहलाने लगे। मथुरा में भगत लीला ने अत्याधिक विकास किया। अबुल फज़ल ने अपनी पुस्तक आइने अकबरी में तत्कालीन दो परंपराओं कीर्तन और भगत का उल्लेख किया है उन्होने लिखा है, ये चिकने–मुख वाले सुन्दर लड़कों को स्त्री–पुरूष का वेश बनाकर गवाया–नचाया करते है।'' सन् 1685ई0 में मैंलाना मोहम्मद अकरम गनीमत ने अपने ग्रंथ ''नौरंगे इश्क'' में लिखा है...

''आज शहर में अजब किस्म के लोग आए है जो एक मौजो साज अंदाज के साथ नकले करते है और नगमों साज के साथ खेल दिखाते है। नाज और नकल के ये उस्ताद है। इनकी आवाज भी मीठी है। हमारी भाषा में इन्हें भगत बाज कहते है। ये कभी मर्द कभ्झी औरत और कभी बच्चे की नकलें करते है, कभी परेशान हाल सन्यासी बन जाते है कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का भेष बना लेते है और कभी फिरंगी (अंग्रेज) बन जाते है। कभी दाढ़ी मुड़ा कर स्त्री की सूरत नज़र आते है, कभी मुगलों की शक्ले बना लेते है, कभी गुलाम बन जाते है, कभी जच्चा बन जाते है जिसका बच्चा दादा की गोद में खेलता है।''

दिल्ली में बारहवीं सदी हिजरी में तकी नाम के भगतिया उस्ताद का भी उल्लेख प्राप्त होता है। औरंगजेब काल से लुप्त भगत परंपरा का इतिहास पुनः 1827 में अमरोहा से ''रूप बसंत'' के रूप में आगरा से प्रारम्भ होता है।

अमरोहा निवासी राम प्रसाद सन् 1827 में बिशन लाल ब्राम्हाण द्वारा लिखा स्वांग आगरा लाए थे। मोती कटरा के जौहरी मल ने इसे अपने यहाँ भगवती देवी उपासना के कारण भगत कहलाते थे। जिसके कारण उनके लिखे स्वांग को भगत कहा जाता था। जिलाधीश ने धन के लोभ स्वरूप दस हजार रूपये देकर सरकार के समर्थन व जनता को विलासिता से जोड़ने वाली भगत लीला लिखने को कहा। भगवती प्रसाद ने सब्ज़परी स्वांग' लिखा जिसमें अंग्रेजो की प्रशस्ति भी लिखी गई थी। नक्कारे पर प्रस्तुत 'सब्ज़परी ने जनता की मनः स्थिति परिवर्तन मे सफलता प्राप्त की। भवगती प्रसाद 'कलंगी घराने के उस्ताद थे। प्रतिक्रिया स्वरूप 'तुर्रा' घराने वालों ने भी लालपरी स्वांग लिखा। इसकी प्रस्तुति ने जनता को स्वतंत्रादोलन से विमुख किया। परिणामतः क्रांतिकारियों ने भगवती प्रसाद को एक दिन मंच पर ही गोली मार दी और भगत लीला बंद हो गई। सन् 1866ई0 में लाल दरवाजा–मथुरा में पुनः मनिया भट्ट ने भगत लीला आरम्भ किया। तत्पश्चात् बहुत सी मंडलिया स्थापित हुयी।

इलाहाबाद के गंगापार कछारों पर बसे गाँव लोकविधाओं की दृष्टि से सर्व समृद्धि रहे। सईदागंज क्षेत्र के गंजिया बहादुरपुर के लगभग पैसठ वर्षीय लल्लन गिरि नौटंकी गुरू नौटंकी के इलाहाबाद के जन्म लेने की बड़ी रोचक गाथा बताते है। उनके गाँव के लाला कल्याण चन्द पन्द्रह वर्ष की

अवस्था में घर से भाग कर मथुरा गए और वहाँ मनिया भट्‌ट की भगत मंडली से जुड़ गए। बीच–बीच में वे जब घर आते तो लोगों को भगत लीला के स्वांगों के छंद सुनाते जो बहुत ही दुरूह राग रागिनियों पर अधारित होते। पुराने समय के वे कक्षा चार–पाँच तक पढ़े कल्याण चन्द बाल्यावस्था से भजन–कीर्तन गाया करते और अपनी मनमोहक गायकी से इलाहाबाद के ग्रामीणांचलों में अपनी अच्छी पहचान बनाए थे। वे जब मथुरा से आते तो दूर दराज़ के कलाकार उनसे मिलने आते थे। उनके विशिष्ट गायक मित्रों में मोहम्मजिया, मोहम्मदाबाद के जलालुद्‌दीन उर्फ जल्ला (आल्हा गायक) जुमना पार के मोहन भगत द्वारा क्षेत्र के महादेव का नाम प्रमुख है।

जलालुद्‌दीन उर्फ मु0 जल्ला को दो पुत्र हुए मीरा और मौला। मौला के पुत्रों की जानकारी नहीं मिल पाई जब कि मीरा के पुत्र कल्लू मास्टर हुए जिनके तीन पुत्र निजामुद्‌दीन, कमाल उस्ताद व खलीलुद्‌दीन हुए दोनों नौटंकी के नामी गुरू रहे। निजामुद्‌दीन के पुत्र नज्मुदीन उर्फ घेर्रन हुए जो आज भी नौटंकी कला की विरासत को बरकरार रखे हुए है। नज्मुद्‌दीन से बराबर भेट मुलाकात होती है। नज्मुद्‌दीन ने बताया लाला कल्याण चन्द लगभग 1880 में स्थाई रूप से सईदागंज आ गए। उन्होनें पितामह मु0 जल्ला, जमुनापार के मोहन भगत द्वारा क्षेत्र के महादेव यादव को लेकर लोक कलाकारों का एक बड़ा आंदोलन चलाया। विदित हो मोहम्मजिया कभी

नौटंकी का प्रशिक्षण केन्द्र था, इलाहाबाद शहर की प्रथम प्रेम संगीत नौटंकी मंडली के प्रख्यात नक्कारा वादक स्व0 करीम उस्ताद ने भी यहीं नक्कारा वादन सीखा था। भारत भवन भोपाल के नक्कारा समारोह में उस्ताद करीम ने भी नक्कारा बजाया था।

नज्मुद्दीन के साक्षात्कार के अनुसार लाला कल्याण चन्द के निर्देशन में खुशी के संगीत रानी नौंटकी लिखा जो काशी से 1882 में प्रकाशित हुई और लाला कल्याण चन्द ने देश में इसकी इतनी प्रस्तुतियाँ की कि सारे स्वांग नौटंकी ही कहलाने लगे। उपरोक्त तथ्य को लोकनाट्यविद् राम लोचन विश्वकर्मा के साथ कैफीलोर्निया विश्वविद्यालय की डॉ0 कैथरीन हैरिसन ने भी अपने शोध में भी प्रमाणित किया है। ''संगीत रानी नौटंकी'' के प्रस्तुति की चर्चा सुनकर अथवा देखकर पं0 मोती लाल नेहरू जी लाला कल्याण चन्द 1888 के कांग्रेस अधिवेशन में जब पं0 मोती लाल नेहरू जी से मिले, उन्होने नौटंकी और लोकगीतों के द्वारा आज़ादी की लड़ाई लड़ने लाल कल्याण चन्द जी ने पं0 लाला कल्याण चन्द जी के प्रिय शिष्यों में थे पंडिला, फाफामऊ के पं0 राजा राम त्रिपाठी जी। नौटंकी कला' त्रैमासिकी पत्रिका के एक साक्षात्कार में सत्ती शरण त्रिपाठी ने बताया है कि किशोरावस्था में मेरे पिता अर्थात् पं0 राम राज जी पेड़ पर बैठ कर कुछ गीत गा रह थे, वे पिता जी की गायकी से बहुत प्रभावित हुए और सीधे घर

जाकर बाबा जी से पिता जी को मांगा, उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया। बस उसी दिन से पिता जी उनके शिष्य हो गए। आज इलाहाबाद ही नहीं अपितु पूरे विश्व में फैले लोक नाट्य नौटंकी के कलाकार लाला कल्याण चन्द जी के ऋणी हैं।

लाला कल्याण चन्द के स्वतंत्रता आंदोलन में नौटंकी और लोकगीतों द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वे टूट से गये, प्रथम पत्नी से मन्नी लाल जी हुए। परिवार वालों ने उनकी दुबारा शादी करा दी। दूसरी पत्नी से दो पुत्रियां और तीन पुत्र हुए किन्तु पुत्र विक्षिप्त हो गए लाला कल्याण चन्द जी टूटते गए दोनों लड़कियों की अच्छे घरों में विवाह किया किन्तु पुत्रों के कारण मौन रहने लगे। उनके परम शिष्य पं0 राम राज त्रिपाठी को गुरू का कष्ट न देखा गया उन्होनें पं0 मोती लाल नेहरू और जवाहर लाल नेहरू को अत्यधिक विवश करने पर अपनी श्री राम संगीत मंडली संचालित की तथा अपने पुत्रों जय जय राम त्रिपाठी, सत्तीशरण त्रिपाठी तथा सहयोगियों प्यारे लाल, राम लोचन सरोज, शेख मूसा उर्फ राम सिंह, महावीर प्रसाद मिश्र, जगेसर, बसंत दादा, मास्टर शफी, मो0 मुहम्मद अली, राजाराम पाण्डेय, दक्खिनी उस्ताद, जगदेव लाला आदि को लेकर अपनी नौटंकी प्रस्तुतियों द्वारा स्वधीनता की अलख जगाने लगे।

सांगीत की नौटंकी परंपरा

सांगीत परंपरा के भग, स्वाँग और नौटंकी रूपों का भेद न समझकर मोटे रूप में नाट्यशास्त्र के लेखक तथा अन्य अनेक विद्वान, जिनमें स्वर्गीय जय शंकर प्रसाद और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी सम्मिलित हैं, पूरी सांगीत विधा को ही नौटंकी नाम से पुकार उठते है। कारण यह है कि नौटंकी का गढ़ कानपुर है, इसलिए पूर्वी उत्तर प्रदेश में जनता कानपुर के प्रभाव से सांगीत विधा के नौटंकी नाम को ही जानती है। लोक भगत से तो परिचित भी नहीं हैं, परंतु जब शास्त्रीय आधार पर किसी परंपरा पर विचार किया जाय तब नाम या शब्दों का गलत प्रयोग भारी भ्रमोत्पादक बन जाता है। ऐसी दशा में नौटंकी की चर्चा करने से पूर्व हम पाठकों को यह बतला देना आवश्यक समझते है कि नौटंकी सांगीत परंपरा की सबसे अधिक अर्वाचीन कड़ी है। इसके नाम में कोई प्राचीनता ढूंढना व्यर्थ है, क्योंकि 'नौटंकी' शब्द किसी शब्दकोश तक में उपलब्ध नहीं होता। यह शब्द एकदम नया है।

वास्तविकता यह है कि नौटंकी का जो रूप कानपुर में प्रचलित है उसका उदयकाल सन् 1910 ई0 के आसपास ही है और उसके जनक भी परीक्षतः हाथरस के स्वाँगिया नथाराम गौड़ ही हैं।

नथाराम अपनी व्यावसायिक मंडली के निर्माण के बाद प्रतिवर्ष श्रावण मास में कानपुर की यात्रा किया करते थे और वे जो भी नया स्वाँग तैयार करते थे उसका प्रदर्शन पहले श्रावण मास में कानपुर में ही होता था उन्हें दो लाभ थे:

1. कानपुर की औद्योगिक नगरी में नया स्वाँग देखने का आकर्षण मजदूर वर्ग में बहुत अधिक होता था और यहाँ के प्रदर्शन से उन्हें काफी धन मिलता था।
2. कानपुर में नया स्वाँग बार–बार करने से वह कलाकारों को अच्छी तरह रट जाता था और उसका मंचीय रूप यहाँ खूब मंझे और निखर जाता था। तब उसी नये स्वाँग को यहाँ से लौटकर नथाराम फिर पहली बार स्वाँग के गढ़ हाथरस में बल्देव छूट के मेले पर करते थे और वो वहाँ अपने प्रतिद्वंद्वियों पर अपनी कलात्मकता की धाक जमाते थे तथा स्वाँग के प्रेमियों से आगे के लिए निमंत्रण प्राप्त करते थे।

कानपुर की नौटंकी

कानपुर में स्वाँग परंपरा कब और कैसे आरम्भ हुई इस संबंध में श्री सनेही जी ने बताया कि ''जब हम छोटे थे तथा कानपुर में कोई नौटंकी को नहीं जानता था। उस समय यहां 'सपेड़ा' निम्न वर्ग के मनोरंजन का मुख्य साधन था और मध्यम–वर्ग तथा उच्च–वर्ग के लोग अपने यहाँ किसी भी उत्सव–समारोह में रंड़ी नचाया करते थे।'' श्री सनेही जी बोले कि ''जब मेरा जनेऊ हुआ तो उसमें रंडी मुफ्त नाचने आई थी। उस समय क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी के यहाँ प्रायः रंडी नाचती थी और वह आदमी रईस नहीं माना जाता था जिसके यहाँ रंडी न नाचती हो। रंडी नचाने की इस प्रथा के श्री गणेशशंकर विद्यार्थी बड़े विरोधी थे और उन्होने रंडी नचाने पर कानपुर में सरकारी प्रतिबन्ध लगवा दिया।

''उसी समय हाथरस के नत्था–चिरंजी की मंडली की बड़ी धूम थी। उसकी ख्याति सुनकर कानपुर के नाच–गान के प्रेमियों ने नत्था–चिरंजी को कानपुर बुलाया और उनका प्रदर्शन यहां इतना लोकप्रिय हुआ कि वे पूरे कानपुर पर छा गए। लोग नत्था–चिरंजी की मंडली के एक्टरों की वेशभूषा तक की अपने पहनावे में नकल करने लगे। उस समय श्री कृष्ण पहलवान ने कानपुर में एक दर्जीखाना खोल दिया जिसमें नौटंकी की वेशभूषा के भड़कीले कपड़े सिलाकर बेचे जाते थे जो कानपुर वालों में हाथों–हाथ बिक

जाते थे लोगों ने नत्था–चिरंजी की ऐसी लोक–प्रियता देखकर श्री कृष्ण पहलवान ने फिर नौटंकी की मंडली कानपुर में स्थापित कर दी जो खूब चली और उसने बड़ा नाम पैदा किया।''

पारसी रंगमंच और नौटंकी

यहाँ नौटंकी पर पारसी रंगमंच के प्रभाव की चर्चा करने से पूर्व हम संक्षेप में यह इंगित कर देना आवश्यक समझते है कि पारसी रंगमंच ने अपने उदय और विकास काल में पहले स्वयं सांगीत परंपरा से प्रेरणा प्राप्त की थी। उसका उदय सांगीत की कथाओं के आधार पर ही हुआ थां

पारसी रंगमच का आरंभ सन् 1766 ई0 में सर्व प्रथम बंबई से हुआ था और इसी वर्ष 'बम्बई एमेच्योर थिएटर' की स्थापना की गई थी। व्यवावसायिक पारसी कम्पनियों का जनक यही थिएटर था। इसी थिएटर से प्रेरणा लेकर सांगली नाटकमझडली बनी थी, जिसने 26 नवम्बर 1853 को 'राजा गोपीचन्द और जालंधर' अभिनीत किया था जिसके लेखक विष्णुदास भावे थे। कहना न होगा कि गोपीचन्द व जालंधर नाथ की कथा सांगीत मंच की सर्वप्रथम उपलब्ध पुरातन कथाओं में से ही है। टेम्पिल द्वारा संग्रहीत स्वाँगों में भी हमें गोपीचन्द स्वाँग मिल जाता है। पारसी रंगमंच ने स्वाँग के कथानकों को ही नहीं अपने गीतों तक में स्वाँगों की भाषा व छंद रचना का

ही अनुसरण किया। विष्णुदास भावे के इस नाटक का एक प्रारंभिक गीत देखें–

अलख निरंजन जनन बसतु है, चरन कमल मन ध्याये जू।
अविचल निश्चल अगम अगोचर, प्रानन प्यारे छाये जू।।
उत्तराखंड के त्रिलोकचन्द राजा, गौंड़ बंगाले देश जू।
बेटो गोपीचन्द धीरे वीर नागर, मदन मूरत महाराज जू।।
नाथ जालंधर रहत गलिन यों, जोग जुगत संजोग जू।
काया न छाया नहिं भूलमाया, जुगल जती के भोग जू।।
गले बनि कथा बभूत बिराजै, जोगी अलख जगाबे दिन रात जू।।

पारसी रंगमंच पर सदैव ही स्वाँग की शैली के गीतों और कथानकों का स्वागत हुआ। इन्दर सभा, लैला मंजनू, रामायण और महाभारत के कथानक, सत्य हरिश्चन्द्र आदि सभी पारसी मंच पर सदा छाये रहे। संभाओं और स्वाँगों के छंद भी पारसी मंच पर ज्यों के त्यों पहुँच गए। ठुमरी, दादरी व लावनी आदि सभी छंद पारसी मंच तथा स्वाँग में समापन रूप से गृहीत थे। मेहताब की यह लावनी शुद्ध सांगीत का छंद ही थी जो बड़ी–बूढ़ी आज भी भाव–विभोर होकर गाती हैं–

दुख हरी द्वारकानाथ शरण मे तेरी।
बिन काज आज महराज लाज गई मेरी।।

पारसी मंच आरम्भ में जहाँ स्वाँग से प्रभावित हुआ वहाँ विकसित होकर उसने स्वाँग परंपरा पर अपना प्रभाव भी डाला। 'तर्जे थिएटर' के नाम से उसकी बहुत–सी धुने सांगीतों में भी आ गई और उनका नौटंकी क्षेत्र में अच्छा स्वागत हुआ। आदान–प्रदान का यह क्रम कला के क्षेत्र में सदा से चलता रहा है परन्तु जब यह परिवर्तन एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया से स्वयं होता है तब वह उस कला के लिए एक वरदान सिद्ध होता है, किन्तु जब लोक कला के क्षेत्र में धुसपैठ की चेष्टा की जाती है और उसपर कोई चीज़ थोपी जाती है तब उसकी दो ही प्रक्रिया होती है–

1. या तो लोककला अपना लोकरूप छोड़कर किन्ही सुगढ़ हाथों में शास्त्रीय रूप धारण कर लेती है।
2. अथवा यदि वह उन परिवर्तनों को पचाने में समर्थ नहीं होती तो अपने मूल रूप में च्युत और पतनोन्मुखी होकर वह धीरे–धीरे समाप्त हो जाती है।

दुर्भाग्य से कानपुर में नौटंकी पर पारसी रंगमंच का जो रंग चढ़ाया गया हमारे विचार से उसने पहलवान साहब या कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में इस मंच की तात्कालिक चमक–धमक भले ही बढ़ा दी हो परन्तु वह अब इस मंच को दीमक बनकर खाने लगी है।

पर्दों का प्रयोग

स्वाँग का मंच सदा से खुला रहा है। इसके चारों ओर या तीन ओर जनता सदा से बैठती रही और पात्र सदा से उन्मुक्त स्वर में इस मंच पर गायन करते रहे हैं परन्तु श्री कृष्ण पहलवान ने नौटंकी को नाटकीय रूप देने की चेष्टा से इस खुले को पर्दों के बंधन में बांध दिया। पारसी ढंग के पर्दे नौटंकी के मंच पर भी लगाए जाने लगे। इससे मंच की स्वच्छंदता बंधन–मुक्त हो गई। पर्दों के आ जाने पर नौटंकी में दृश्य–विधान की भी चेष्टा की गई। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के 'भगतसिंह' सांगीत के आरंभ में ही जंजीरों से जकड़ी भारत माता मंच पर दिखाई जाती है या उनके स्वाँगो में धरती में से देव प्रगट होते हैं और धरती में ही विलीन हो जाते है। यह सब पारसी मंच का ही अनुशरण था।

गद्य संवाद (ड्रामा)

स्वाँग में पहले गद्य संवादों का कोई स्थान न था। रोना, हंसना, बोलना भी गाने में होता था, परन्तु कानपुर में पारसी नाटक के अनुकरण पर गद्यसंवाद प्रचुरता से जोड़े गए। श्री कृष्ण पहलवान के सांगीतों में तो इन संवादों को ड्रामा ही नाम दिया गया है।

उत्तर प्रदेश की लोक–विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान

जूनियर फेलोशिप की द्वितीय रिपोर्ट
(१ जुलाई २०१६ से ३१ दिसम्बर २०१६)

सोनी कुमार गुप्ता
फाईल नं0– CCRT/JF-3/30/2015
पत्र संख्या – CCRT/JF-3/30/2015/31225
Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts
Sub Field:- Folk Theatre
36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli
Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India
: 7668220333
Email Id: sonikumar05@gmail.com

सेवा में,

निदेशक,
सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (CCRT)
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली।

विषय :— जूनियर फेलोशिप की द्वितीय रिपोर्ट के सम्बन्ध में

संदर्भ — फाईल नं. —CCRT/JF-3/30/2015

महोदय,

मैं सोनी कुमार गुप्ता आपके सुलभ संदर्भ हेतु अपनी कनिष्ठ अध्येतावृत्ति **"उत्तर प्रदेश की लोक विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान"** की द्वितीय छमाही की रिपोर्ट प्रेषित कर रहा हूँ जो कि 01 जुलाई 2016 से 31 दिसम्बर 2016 के मध्य तैयार की गयी है।

आपसे विनम्र निवेदन है कि द्वितीय छमाही का भुगतान अतिशीध्र करने की कृपा करें।

धन्यवाद!

आपका आज्ञाकारी

(सोनी कुमार गुप्ता)
फाईल नं0—CCRT/JF-3/30/2015
पत्र संख्या —CCRT/JF-3/30/2015/31225
Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts
Sub Field:- Folk Theatre
36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli
Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India
Mob: 7668220333
Email Id: sonikumar05@gmail.com

रासलीला का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान

"उत्तर प्रदेश के लोक नाट्यों का भविष्य"

"कोस कोस पर बदले पानी

चार कोस पर वाणी।

हमारे पूज्यनीय देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद द्वारा लिखी गई उपरोक्त पंक्तियाँ राम और कृष्ण के प्रदेश उत्तर प्रदेश को रेखांकित करती है ये वही प्रदेश है जहाँ भारतीय लोक नाट्यों का जन्म हुआ। विश्व की महानतम लोक नाट्य शैली राम लीला, रास लीला और नौटंकी जैसी विधाओं का क्षेत्र है उत्तर प्रदेश।

मेरे शोध का विषय द्वितीय चरण में रास लीला है।

उत्तर प्रदेश की भूमि अपनी संस्कृति अद्वितीय लोक रंगों एवं बहुरंगी लोक विधाओं के इन्द्रधनुषी छत के लिए जानी जाती है कृष्ण की भूमि होने के कारण रास लीला में प्रदर्शन कर लोक नाट्यों का ताना–बाना बुना है।

रास लीला का शास्त्रीय– स्वरूप और रंगमंच

श्रीमद्‌भावगत की रासपंचाध्यायी के आधार पर श्रीकृष्ण की ब्रजगोपांगनाओं से परिवेष्टित नृत्यपरक लीला विशेष को 'रासलीला' का परिधान प्राप्त है, परन्तु रासमंच पर श्रीकृष्ण की अनेक विश्व क्रीड़ाओं के अनुकरणात्मक प्रदर्शन को रंग–संरचना की दृष्टि से पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध, दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। लीला–प्रदर्शन के पूर्वार्द्ध को नियरास अथवा संगीत कहते है एवं उत्तरार्द्ध को लीला विशेष के नाम से जाना जाता है। नित्य रास की रंग–प्रक्रिया एवं सुनिश्चित परिपाटी के अनुकूल अपने नृत्यात्मक स्वरूप में सम्पादित होती है तदुपरान्त श्रीकृष्ण की किसी लीला–विशेष कर अभिनय का संगीतमय प्रस्तुतीकरण किया जाता है। 'रास' और 'लीला' का यह संयोग 'रासलीला' का अनुल्लंघनीय विधान है और नामकरण भी सम्भवतः सही कारण है।

रासलीला का स्वरूप एवं भावना

मध्ययुगीन नाटककारों के सम्मुख नाटक और रंगमंच का जो चित्र निर्मित हुआ, उसमें संस्कृत–नाटक–पद्धति एवं जन शैली दोनों रंगों का मिश्रण था। रासलीला के बाह्यरूप एवं शास्त्रीय विधान को भी भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा एवं लोकधर्मी संगीतक के विभिन्न तत्वों की एक विशिष्ट समायोजित विधा कहा जा सकता है, परन्तु रासलीला को मात्र नाटक या संगीतक मानना युक्ति संगत न होगा। इसकी मूल प्रेरणा उपासना

का माध्यम होने में है रासलीला का दर्शक क्षण भर के लिए भी यह मानकर नहीं चलता कि वह किसी मनुष्यकृत कला का प्रदर्शन अथवा दर्शन कर रहा है। रास को सर्वदा भगवत लीला का दिव्यावतरण ही माना जाता है और इसी भावना से सर्वत्र रास का अभिनय सम्पन्न होता है। उदयपुर की उत्तरी सीमा पर स्थित रूपहली नामक स्थान से लिखे थॉमस डूएर बोटन के एक पत्र से भी रासलीला की यह भगवत्ता एवं स्वरूपगत दिव्यता समर्थित होती है। श्री ब्रोटन ब्रिटिश रेजीडेन्स के प्रधान अंग–रक्षक थे और उन्होने रास के इस आयोजन को माधो जी सिन्धिया के आमन्त्रण पर सन् 1809 में जन्माष्टी के अवसर पर उनके कैम्प में स्वयं देखा था। उनके द्वारा दिये गये रास आयोजन के इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय रास की परिस माप्ति पर रास के स्वरूपों ने साधारण नाटकों के कलाकारों की भांति महाराज का अभिवादन न कर, स्वयं अपने छोटे–छोटे हाथों को उठाकर उनको आर्शीवाद प्रदान किया था। रासलीलाओं की यह भगवत्ता अद्याविध अक्षुण्ण है।

रास के ये समायोजक स्वयं में भक्त–हृदय न हो तो रासलीला द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्वामी अपनी–अपनी मण्डली के साथ रहते हैं। उन्हें भक्तों द्वारा केवल कलाकार के रूप में ही नहीं, वरन् एक भक्त या आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और इस भावना के अनुरूप में अपने जीवन को साधनामय रखते भी है। दैनिक इष्टायोजन के साथ वे स्वयं भी अनेक नियमों का पालन करते है और भगवत स्वरूप धारण करने वाले मण्डली के बालकों को भी वे इस प्रकार की शिक्षा देते है,

जिससे उनका जीवन पवित्र हो तथा वे सब नैतिक आचरण के आदर्श बन सके। सामान्य कलाकार केवल मंच पर ही आदर पाते हैं, परन्तु रासलीला के पात्र अथवा मण्डली का स्वामी इन स्वरूपों में भगवदीय भावना रखता है और रास की दर्शन–मण्डली के कारण 'श्री लाड़िली लालजू' अथवा 'श्री प्रिया प्रियतमजू' कहा जाता है।

प्राचीन काल से ही लीला–पात्रों एवं मण्डली के अन्य वादक–गायकों की सामान्य दिनचर्या के लिये नियम बनाये गये हैं। थोड़े समय सोना, सत्संग एव धर्म–ग्रन्थों का अध्ययन करना, निरर्थक सांसारिक चर्चा से दूर रहना, असत्य आचरण न करना, अहंकार की भावना से मुक्त रहना, भगवन्नाम उच्चारण करना, लीलानुचिन्तन करते रहना आदि नियमों का पालन लीलाओं के भागवत बोध के लिए आवश्यक समझा जाता है। लीला–स्वरूपों के अतिरिक्त राम मण्डलियों में रहने वाले गायक–वादक वर्ग के लिए भी कतिपय नियमों का परिपालन किये जाने की प्रथा रही है ऐसी नियमावलियाँ सन्त–महात्माओं द्वारा समय–समय पर प्रायः बनायी जाती है।

रास का दर्शक अथवा समाज

रास का समाज भी भक्ति की ओर उन्मुख विशेष दर्शन होता है। उसमें सदैव यह भावना बनी रहती है कि वह किसी लौंकिक कृत्य के अभिनय का द्रष्टा मात्र नहीं है, अपितु भगवान की दिव्य लीला का दर्शन कर रहा है। लीला स्वरूपों को प्रणाम करके ही व रासमण्डल में प्रविष्ट होता है। रास–मण्डल पर बैठकर वार्तालाप करना, पैर पर पैर

रखकर बैठना, पैर सीधे करना तथा धूम्रपान आदि करना दर्शक के लिए निषिद्ध माना जाता है। भगवान के सिंहासन से ऊँचे स्थान पर बैठना, लीला के समय रासमण्डल के बीच से निकलना अथवा कुर्सियों पर बैठकर धूम्रपान करते हुए लीलानुकरण देखना सर्वथा गर्हित समझा जाता है। इसका उद्देश्य यही है कि स्वामीगण रासलीला को ऐसे वातावरण में प्रस्तुत करते हैं जिसमें भक्ति का संचार हो सके। रासारम्भ होने पर रास के प्रयोक्ता एवं दर्शक–सभी भक्ति भावना के अनुकूल आचरण करें, रासमंच की इसी में सार्थकता है।

यद्यपि वर्तमान युग में रासलीला में रासमंच पर सभी नियमों का पालन उतनी गम्भीरता से सम्भव नहीं होता, फिर भी मण्डलियों में रास की प्राचीन मान्यताओं को अब भी स्वीकार किया जाता है।

रास की रंग–संरचना

रंग–संरचना की दृष्टि से रास को विद्वानों में लोक–नाट्य–परम्परा में अन्तर्भुक्त माना है। मंचीय वैशिष्ट्य अभिनय कौशल, रूप–सज्जा एवं वेष–भूषा सम्बन्धी लोक–उपकरणों के कारण रास की इस विधा का स्वरूप लोक–नाट्य शैली के अनुरूप होता भी है। परन्तु रासलीलाओं के विधान में नृत्य–संगीत एवं नाट्य–तत्वों से समन्वित पौराणिक कथावस्तु उसके नृत्य का नाट्यशास्त्रीय उपक्रम, पात्रगत चारित्रिक विशेषताएँ नान्दी पाठ के रूप में स्तुतिपरक भगवदीय वन्दनाएँ एवं रास समापन की विशिष्ट शैली,

विदूषक के रूप में मनसुख की अंतारणा तथा सूत्रधार के रूप में रास–संचालन में मण्डली के स्वामी की विशेष स्थिति आदि का वैशिष्ट्य रासलीलानुकरण की इस विधा को शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत–नाट्य–परम्परा का अनुगामी घोषित करता है।

नित्यरास और लीला

रासमंच लोक–धर्मी एवं नाट्यधर्मी द्विविध परम्पराओं को आत्मसात करता हुआ अपने वैष्णवी स्वरूप में स्थापित हुआ है। रासमंच पर रासलीला के पूर्वार्द्ध 'नित्यरास' के प्रदर्शन की अपनी एक सुनियोजित परिपाटी है। इसके संगीत में मात्र कलात्मक चमत्कारी न होकर विषय–वस्तु की गम्भीरता को प्रमुख्य प्राप्त है। रासलीला के उत्तार्द्ध लीला भाग के मंचन में बालकृष्ण अथवा किशोर कृष्ण से सम्बन्धित किसी घटना अथवा कथा की प्रमुखता रहती है। श्री कृष्ण लीलाओं से सम्बद्ध इन छोटे–छोटे कथानकों में अत्यधिक सरसता एवं विलक्षण नाटकीयता विन्यत्र होती है। नाट्यशास्त्रीय कथानक की पाँच अवस्थाओं मे प्रारम्भ, प्रात्याशा एवं फलागत की स्पष्ट अभिव्यंजना इन लीला–प्रदर्शनों में देखी जाती है। इनकी प्रारम्भावस्था में प्रयत्न तथा फलागम में नियताप्ति की समाहित मानी जा सकती है। लीलाओं के भक्तिभावित आरम्भ और उपसंहार मुख एवं निर्वहण संधि की सनियोजना को लक्षित करते है। बीच–बीच में अनेक सन्ध्यंकों का स्फूरण लीला–प्रदर्शन–पद्धति की अपनी निजी विशेषता है। कौशिकी आदि वृत्तियों का विनियोग भी इन लीलाओं का अभिव्यंजना में सफलता से किया जाता है।

पद्य एवं गद्य के माध्यम से रास लीलाओं की यह घटनावली भक्तिमय वातावरण को अक्षुण्ण रखती हुई उस बेगमान प्रवाह की तरह सतत अग्रसर होती रहती है, जहाँ संगीत की भावोमियाँ सहज ही अद्भूत होने लगती है। लीला का गद्य अथवा पद्य, दोनो ही अपनी अभिव्यक्ति में संगीत की एक समिश्र रचना प्रतिभासित होते है। इसका पद्य़ तो पूर्णरूप से राग और ताल में निबन्धित करके प्रस्तुत किया ही जाता है, इसके गद्य भाग के प्रस्तुतीकरण में भी बलाघात पर आधारित वर्णों के उच्चारण में एक विचि? लयानुरूपता विद्यमान रहती है। लीला–कथा के अनुसार हाव–भाव एवं अभिनय आदि की संयोजना इसे नाट्य–विधा की पूर्णता प्रदान करती है। वस्तु–विन्यास की दृष्टि से इन लीलाओं को अत्यधिक वैविध्य प्राप्त है। कतिपय लीलाओं की प्रबन्ध नियोजना में श्रीमद्भागवत आदि पुराण ग्रन्थों में वर्णित ब्रजराज की विविध बाल–क्रीड़ाओं को अनुस्यूत किया जाता है, तो कतिपय लीलाओं के प्रदर्शन में विभिन्न भक्त कवियों के भाव लोक में अनुभूति प्रिया–प्रियतम की निकुंजस्थ प्रेम–कवियों को विन्यस्त किया जाता है। लीलास्थली की दृष्टि से इन लीलाओं को ब्रजलीला, मथुरालीला, द्वारका लीला एवं निकुंजलीला आदि विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उपासना साधना के परिप्रेक्ष्य में इन लीलाओं को नन्दभवन के वात्सलय भाव, ब्रज–गोष्ठ्‍ के सख्त भाव एवं निभृत–निकुंज के माधुर्य–भाव आदि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रेमतत्व की वरीसता के प्रतिपादन भी कतपिय लीलाओं का कथासूत्र श्री राधा विशेष को लेकर इन लीलाओं में बालभाव एवं किशोर भाव आदि के विभेद भी स्थापित किए जा सकते है।

श्रीराधाकृष्ण का अनन्त–सौन्दर्य, अनन्त–माधुर्य, अनन्त–शील और अनन्त–शक्ति का प्रकाशन आदि विविध लीलाओं का प्रतिपाद्य होता है। इन रासलीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन में विभिन्न कवि–महात्माओं द्वारा विरचित ब्रजभाषा का अपरिमेय लीला–साहित्य प्रयुक्त होता है। भक्तों की सच्ची निष्टा और अन्य भावना ने अपने आराध्य की विविध प्रभु की नित्य नवीन लीलाओं को गाना एवं अपने आराध्य को रिझाना ही इन कवि–भक्तों की दैनिक चर्या रही है। भक्त कवियों को प्रमुखतः लीला गायक ही कहा गया है। रासमंच विशिष्ट संग्रथना में प्रस्तुत किया जाता रहा है। इन लीलाओं को वैविध्य ब्रजभाषा के पौराणिक एवं अनुभूति की भाव–निष्ठ स्थिति विशेष के आधार पर लिखे गए, इस अपरिसीम लीला–साहित्य पर निर्भर है।

रासलीला और उसका उपक्रम

रासमंच पर लीलाओं का अभिनय–प्रदर्शन श्रीकृष्ण के नित्यरास से आरम्भ होता है। नाट्य प्रदर्शन से पूर्व भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट पूर्व रंग की कुतप विन्यास आदि बाईस क्रियाएं रासलीला प्रदर्शन में यद्यपि यथावत् रूप से गृहीत होता नहीं देखी जाती, फिर भी नान्दीपाठ आदि जिन क्रियाओं को वैष्णव आचार्य–भक्तों ने अपने भक्ति–रस की अभिवृद्धि में रासलीला के प्रयोक्ताओं की दृष्टि रास के माध्यम से किसी नाटक विशेष के प्रदर्शन की सफलता की ओर केन्द्रित न रहकर भक्ति–रस के प्रकाशन एवं उसकी परम आस्वादनीयता की ओर लक्षित रही है। फलतः रस के मंचीय प्रदर्शन में भरत सम्मत

परम्पराओं की योजना को परिलक्षित होती है। परन्तु उसकी दुरूह व्यवस्था को रास–प्रदर्शन की लोकधर्मी परम्परा ने स्वीकार नहीं किया है। रासलीला–प्रदर्शन के शास्त्रीय विधान में एक सहजता, सरलता एवं गम्भीरता है, जिसके कारण भक्त–हृदय में इस लीला–रस की गहनतम पैठ होती हदेखी जाती है। यही कारण है कि आधुनिक दृष्टि से नाट्य प्रदर्शन में जहाँ कथन सम्बन्धी पुनरुक्तियाँ आदि ग्राह्य नहीं होती, वहाँ रासमंच पर इस प्रकार की युक्तियां भगवदुन्मुखी लवलीनता को बनाए रखने में सहायक होने के कारण रास–प्रदर्शन शैली का अलंकरण समझी जाती है। जहाँ आधुनिक दृष्टि का नाटककार जीवन की व्यावहारिक स्थिति के प्रदर्शन को अपनी कृति की सफलता मानता है, वहाँ रासलीलाओं का प्रयोक्ता श्रीकृष्ण कथाओं के अतिशयोक्तिपूर्ण प्रसंगों तथा उनकी गीतिमय संवाद नियोजनाओं द्वारा नृत्य, गीत एवं वादित्र का आश्रय लेकर रास दर्शक को भावविहवल बनाये रखने में अपने प्रयास की सफलता समझता है। रास दर्शक लीला दर्शक के माध्यम से साधना की उस मनोभूमि में पहुँच जाय, जहाँ वह श्रीकृष्ण–सान्ध्यि की अनुभूति कर सके, यही मूल भावना रास लीला के उपक्रम में सर्वत्र विद्यमान रहती है।

रासांरम्भ

भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य प्रारम्भ से पूर्व वाद्यों के घोष से सामाजिकों को आकर्षित करने का प्राविधान है। रासलीला के प्रदर्शन से पूर्व भी रासमंच के प्रयोक्ताओं

द्वारा हरिनाम संकीर्तन की प्रथा का प्रचलन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया प्रतीत होता है। हरिनाम–संकीर्तन की इस प्रक्रिया को यहाँ प्रायः कोई स्थानीय अपने वाद्य यन्त्रों के साथ सामाजिक वर्ग बैठ जाता है और बिना किसी व्यवधान के अपने–अपने साजों को इस्वरादि की दृष्टि से मिला लेता है। मंच के तीन ओर बैठी भक्तमण्डली संकीर्तन द्वारा अपने चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने में लगी ही होती है कि रासमंच पर एक साधारण सी यवनिका के उद्घाटन के साथ मंचस्थ सुसज्जित सिंहासन पर श्री राधाकृष्ण की दिव्य झांकी दर्शन समाज के सम्मुख प्रकट हो जाती है। ब्रज संस्कारों के अनुरूप अलंकृत श्री राधाकृष्ण की यह जुगल जोड़ी नयनाभिराम होती है। श्री कृष्ण का दक्षिण–हस्त उनके मुखारबिन्द पर विराजित मुरलिका का आश्रय बनता है तथा वामहस्त उनकी वामांग में विराजित श्री राधिका की गलवहियाँ दिए होता है। सिंहासन पर विराजित श्री राधाकृष्ण के निकट ही थोड़ा सा नीचे उनकी दोनों और सखियाँ बैइ जाती है अथवा उन्हें श्री राधाकृष्ण की चँवर, छत्र आदि की सेवा करते हुए दिखाया जाता है।

मंगलाचरण और आरती

श्री राधाकृष्ण और सखी परिकर की दिव्य झाँकी होते ही सिंहासन के सामने कुछ स्थान छोड़कर अर्द्धवृत्ताकार में बैठा हुआ गायन–वादक–परिंकर, हारमोनियम, सारंगी, पखावज, और झाँझ आदि वाद्यों को सम्हाल लेता है। सबसे पहले रासमण्डली का स्वामी

अपने स्थान से आगे बढ़कर सखी परिंकर सहित विराजमान श्री राधाकृष्ण के चरण स्पर्श करता हुआ सिंहासन के सामने रिक्त मण्डलाकार भू–भाग में दण्डवत प्रणाम करता है। तदुपरान्त वह अपने स्थान पर आकर सारंगी अथवा हारमोनियम के स्वरों में मंगलाचरण आरम्भ करता है। नाट्यारम्भ में मंगलाचरण की प्राचीन परिपाटी रही है। भरत के अनुसार देवों के साहाय्य के लिए उनकी अभ्यर्चना का विधान है, परन्तु रासमंच पर अन्य देवों की प्रतिष्ठा न करके वैष्णवी दृष्टि ने कृष्णात्पर किमपि तत्वमहं न जाने के अनुसार श्री कृष्ण एवं उनकी ही अभिन्नस्वरुपा श्री राधिका को ही स्वीकार किया है।

रास के मंगलाचरण की भी अपनी विशेष परिपाटी है। प्रारम्भ में गुरू की वन्दना, रसबिहारी की वन्दना, ब्रजवन्दना एवं प्रभुस्वरुप की वन्दना आदि के स्वर क्रमशः रासमण्डल में गुंजरित होने लगते है। रासलीलाओं के प्रदर्शन इन शब्दों से प्रारम्भ होते है–

श्री ब्रजराजकुमारवर गाइयै।

श्री लाड़िलीललनवर गाइयै।।

श्री ब्रज कौजीवनधन गाइयै।

भक्तन की मनभामती गाइयै।।

श्री राधाकृष्ण का मंगलाचरण श्रीमद्भागवत आदि प्राचीन ग्रन्थों के श्लोकों से किया जाता है। मंगलाचरण का प्रमुख प्रयोजन श्री राधाकृष्ण एवं सखी रुप सिंहासनासीन स्वरुपों में श्री विग्रह की भावना का प्रतिष्ठापन करना एवं रास–रस–रसिक दर्शन की भाव–भूमि को दिव्य रसास्वादन के लिए समर्थ बनाना है। भगवान के शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं गरिमा को अभिव्यंजन ये रचनाएँ भक्तिमय वातावरण की प्रतिष्ठापना में विशेष योगदान करती है। उदाहरण स्वरुप प्रस्तुत प्रसंग में रासलीला में मंगलाचरण से सम्बन्धि कुछ श्लोक द्रष्टव्य है।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,

विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तींच मालाम्।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–

र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।

सजलजलदनीलं दर्शितौदार्यशीलं,

करतलधृतशैलं, वेणुवाद्यै रसालम्।

ब्रजजनकुपपालं, कामिनीकेलिलोलं,

तरूण तुसिमाल, नौमि गोपाल बालम्।।

राधाकृष्णावहं वन्देरसरूपौरसायनौ, वृन्दावनकिंुजेषु नित्यलीलासमाश्रितौ।

निकुंजस्थौ परागम्यौ परात्परतरावुभौ, सर्वेषांप्रेरकौ दिव्यौ सदा बन्देकलात्मकौ।।

उपर्युक्त अनेकविध संस्कृत श्लोकों के मंगलाचरण मे रासमण्डलियों द्वारा यथास्थान ब्रजभाषा रचनाएँ भी होती है। आधुनिकयुग में समयाभाव में मंगलाचरण की इस परिपाटी को केवल ब्रजभाषा रचनाओं तक ही सीमित कर दिया है। संस्कृत श्लोको के प्रयोगाभाव का एक कारण लीला–स्वरूपों के अशुद्ध उच्चारण को भी माना जा सकता है, क्योंकि आज का रास–दर्शन मात्र भावुक ही नहीं वरन् वह बुद्धिवादी भी होता है। रासानुकरण के मंगलाचरण में प्रयुक्त ब्रजभाषा के वाणी–ग्रन्थों से कतिपय रचनायें यहाँ प्रस्तुत है–

भक्ति भक्त भगवन्त गुरू, चतुर्नाम वपु एक।

इनके पद वन्दन किये, मैटत विघ्न अनेक।।

नव दूलह नव दुलहिनी, एकप्राण द्वै देह।

वृन्दावन वरषत रहै, नवल नैन की मेह।।

कनकबेल श्रीराधिका, सुन्दर श्याम तमाल।

दोनो मिली एकई भये, श्रीराधावल्लभलाल।।

मेरी बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।

जा तन की झाँई परै, श्याम हरित दुति होय।।

सब द्वारन कूं छाडिकै, गह्यौ तुम्हारौ द्वार।

हे तृषभानुकी लाड़ली, मेरी ओर निहार।।

श्रीराधाकृष्ण की युगल–वन्दना के उपरान्त रासमण्डली के स्वामी द्वारा ब्रज गोपिकाओं की वन्दना की जाती है, गुरूवन्दना होती है और इसी प्रसंग में रासस्थली श्रीवृन्दावनधाम की वन्दना की जाती है। श्री राधाकृष्ण, सखी समाज एवं वृन्दावन धाम की वन्दना को साथ–साथ नित्य–बिहारी के गुणगान की परम्परा भी सम्पन्न होती देखी जाती है। इस प्रकार वन्दना प्रस्तुतीकरण में भक्तिमय वातावरण के निर्माण की अद्भुद क्षमता रहती है। वन्दना भाग के अन्त में बोली जाने वाली श्री लाड़लीलाल की जयकार तो समस्त उपस्थित रास दर्शकों को लीलाभिनय–दर्शन के लिए प्रतिफल उत्सुक बनाती हुई उनकी चित्तवृत्तियों को पूर्णतः मंचोन्मुखी कर देती है। रासलीलाओं की इस प्रारम्भिक वन्दना में ब्रज साहित्य के अथाह सागर से काव्य–रत्न संग्रहित किये जाते है और विविध रासमण्डलियों द्वारा उनकी अपनी सुविधानुसार प्रयोग में लाये जाते है। स्वामी जी के मंगलाचरण के परिसमापन पर समाजी वर्ग के शेष वाद्य–वादक भी क्रमशः इसी प्रकार की प्रसंगानुकूल भक्तिमय रचनाओं से श्रीरास बिहारी की वन्दना करते है। इन रचनाओं का प्रतिपाद्य प्रायः ब्रज–रस–महिला, वृन्दावन महिमा, प्रिया–प्रियतम की रूप–माधुरी, वंशी–माधुरी एवं उनकी भक्तवतसलता, कृपालुतला ऐश्वर्य महिमा आदि होता है। इन रचनाओं के प्रस्तुतिकरण से रासमण्डल का सम्पूर्ण वातावरण भक्तिमय हो जाता है। इस सन्दर्भ में गोविन्द स्वामी की एक ध्रुपद–रचना द्रष्टव्य है–

छबीले लाल की यह वानिक बरनत बरनी न जाय।

देखततन मन करि न्योछावर आनंद उर न समाय।

कन्द मूल फल आगे धरि कँरही सकुच सिर नाय।

गोविन्द प्रभुप्रिय सौ रति मानी पठई रसिक रिझाय।।

रासमंच पर इन रचनाआं का प्रस्तुतीकरण भी अपनी विशिष्ट गायकी में निबद्ध होता है। ध्रुपद एवं जातिगान रास संगीत का प्राण है। आइने अकबरी के अनुसार 'ध्रुपद' किसी भी लंबाई की तीन–चारी लयबद्ध पंक्तियों का एक पद्य होता है, जिसमें उन व्यक्तियों की प्रशंसा होती है, जो अपनी वीरता और गुण के लिए प्रसिद्ध होते है। ध्रुपद अथवा ध्रुव पद भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित प्राचीन प्रबन्ध 'ध्रुवा' का ही विकसित रूप है। भरत ने इन ध्रुवा–गीतों का निर्माण एक, पाणिका, गथा तथा सप्तरूप प्राचीन गीतों के अंगों को लेकर हुआ बतलाया है। ध्रुवा–गीतों का क्रियात्मक रूप भर के पूर्व से लेकर परवर्ती संस्कृतनाटक–ग्रन्थोतकबराबर पाया जाता है। बाण ने इन गीतों के गान–भाव तथा ताल विषयक विशेषता का उल्लेख अपनी कादम्बरी में किया है। मौलाना इम्तियाजअली अर्शी ने अपने एक लेख में मानसिंह तोमर द्वारा प्रवर्तित जिन विष्णुपद गायन एवं ध्रुपद गायन परम्पराओं का उल्लेख किया है, उनमें ध्रुपद गायकी को विषयवस्तु की दृष्टि से नायक–नायिकाओं एवं पूर्वजों की गौरव–गाथाओं के प्रस्तुतीकरण से सम्बद्ध माना है। प्रतीत होता है कि स्वामीहरिदास ने अपने युग की विष्णुपद एवं ध्रुपद

परम्पराओं में ध्रुपद रचनाओं को भी लीला–वर्णन से सम्पृक्त करके भक्ति क्षेत्र में अधिष्ठापित कर दिया था महाकवि सूर एवं स्वामी हरिदास को इन दोनो ं शैलियों के प्रतिनिधि कवि के रूप में कविवर गोपाल ने सूर कौपद और धुरपर हरदिास को कहकर स्पष्टी स्वीकृति प्रदान की है। विष्णुपदों के गान की कीर्तन–परम्परा में जहाँ शब्दो का अर्थ प्रधान रहता है, वहाँ ध्रुपद में शब्दार्थ के साथ संगीत की भी प्रधानता रहती है। स्वर पद तथा ताल का मंजुल सामंजस्य ध्रुवा गीतों को विशेषता बतायी गयी है। वर्ण, अलंकार, लय, यति, उपपाणि इन अंगों के ध्रुव (नियत) सम्बन्ध के कारण ही भारत में इन्हे 'ध्रुव' कहा है। ध्रुव पद का और ध्रुव अर्थात् निश्चित पद। इसके निश्चित बँधे हुए पद होते है। इसके चार अव्यय होते है– स्थायी, अन्तरा, संचारी, और आभोग कुछ ध्रुव–पदों में स्थायी और अन्तरा केवल दोही अव्यय होते है। यह अधिकतर चौताल, सूलफाकताल, झंपा, गजताल, तीव्रा ब्रह्मा, रूद आदि तालों में गाया जाता है। इनमें राग की शुद्धता बहुत ही सुरक्षित रहती है।

भारत के अनुसार ध्रुवाओं का यथास्थान रसानुकूल प्रयाग नाट्य को उज्ज्वल बना देता है। इसीलिए नाट्यशास्त्र में स्थान एवं प्रयोजन के आनुकूल्य को लक्ष्य कर पंचविध ध्रुवाओं का नामकरण किया गया है। रासमंच पर ध्रुपद गायन की परम्परा भी रास की स्वरूपगत गम्भीरता को स्थापित करने के लिए स्वीकृत हुई प्रतीत होती है। वस्तुतः ध्रुपद रचनाएँ शब्द–संगीत एवं काव्य–संगीत की श्रेष्ठतम निदर्शना है, जिनके माध्यम से रास का भक्तिमय वातावरण अक्षुण बना रहता है। रासलीलाओं की मौखिक परम्परा में

स्वरांकन प्रणाली के अभाव के कारण ध्रुपद एवं धमार आदि की गायकी का रासमंच पर पहले क्या स्वरूप रहा होगा, निश्चित रूप से इस विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता, परन्तु रासमंच पर ध्रुपदगान की यह परम्परा आज भी अपने आधुनिक स्वरूप में विद्यमान है, इसमें दो मत नहीं है। स्वामी हरिदास, महाकवि कुम्भनदास, सूरदास, नन्ददास और तालेल आदि की रचनाओं को रासमण्डलियों के स्वामी मृदंग एवं पखावज पर ध्रुपद शैली में प्रुस्तुत करते हैं तथा रासदर्शक की भावोमियों को आन्द्वेलित कर उनकी भक्ति–भावना में स्थायित्व लाने का प्रयास करते है। ब्रज साहित्य का अपरिसीम भण्डार इस दृष्टि से विशेष अवलोकनीय है। ध्रुपद शैली में रासमंच पर प्रस्तुत महाकवि नन्ददास की एक रचना को उदाहरण स्वरुप उद्धत करना ही यहाँ पर्याप्त होगा–

जाकौ वेद रटत ब्रह्मा रटत, शम्भुरटत शेष रटत।

नारद शुक व्यास रहटत, पावत नहीं पार री।।

ध्रुवजन प्रहलाद रटत, कुंति के कुँवर रटत।

दुपद सुता रटत नाथ, अनाथन प्रतिपाल री।

गणिका गज गीध रटत, गौतम की नारि रटत।

राजन की रमणीरटत, सुतन दै दै प्यार री।।

नन्ददास श्री गोपाल, गिरिवरधर रुप जाल।

जसोदा कौ कुँवर लाल, राधा उरहार री।।

सखी परिकर द्वारा प्रशस्तिगान

सिंहासनारुढ़ श्रीराधाकृष्ण की आरती के उपरान्त युगलजोड़ी के चरण स्पर्ष करती हुई सखियाँ विविध रचनाओं के माध्यम से श्रीरास बिहारी की प्रशस्तियों का गान करती है। इस अवसर की सामूहिक प्रशस्ति का एक श्लोक द्रष्टव्य है–

जय कृष्ण मनोहर योगतरे, यदुनन्दन नन्द किशोर हरे।

जय रासेश्वरि पूर्णतमे, वरदे वृषभानु किशोरि हरे।

जयतीह कदम्बतरे ललिता, कलवेणु सुधा रस गान लता।

सह राधिकया हरि एकमता, सत तनु तरूणी जन मध्य गता।

प्रशस्तिगान का यह कम समय एवं सुविधा के अनुसार घटता–बढ़ता रहता है। सामूहिक प्रशस्तियों के सम्पन्न होने पर सिंहासन के आस–पास खड़ी होकर सख्यिाँ एक–एक कम से ब्रजभाषा कवियों को प्रस्तुत करती भी देखी जाती है। इस सन्दर्भ में दो कविता उदाहरण उद्धत है–

प्रथम सखी–

जय जय जुग चंद, ब्रजचंद सुखकंद जय जय,

सेव्य अलि वृन्दन के आनंद अमंद की।

आरती बाल कृष्ण की कीजै।

श्री जनम सुफल परम दुलारौ,

बबा की अँखियन कौ तारौ।

गोपिन के प्रानन कौ तारौ,

इन पै प्रान निछावर की जै।।

आरती बाल कृष्ण की कीजै।

अपनौ जनम सुफल करि लीजै।

बलदाऊ कौ छौटौ भैया,

कनुआँ कहि कहि बोलत मैया,

परम मुदित मन लेत बलैया,

यह छबि नैनन में भरि लीजै।

आरती बाल कृष्ण की कीजै।

अपनौ जनम सुफल करि लीजै।

श्रीराधा वर सुघर कन्हैया,

गेपिन कौ नवनीत चुरैया,

देखत ही मन प्रान रिझैया,

अपनौ सरबसु इनकूँ दीजै।।

आरती बाल कृष्ण की कीजै।

अपनौ जनम सुफल करि लीजै।

माधौ मुकुंद जय जय, कंस के निकंद,

स्वच्छंद जगबंदन जय गिरिधर गोबिन्द की।।

जन मन मलिंद, जुरि पियत मकरंद,

जयति पद अरविंद जय जय राधा नंद–नंद की।

रास–रस–सिंधु निरखि, मेटक दुजख द्वंद आज,

बोलौ मिलि जय जय सब वृन्दावन चंद की।।

द्वितीय सखी–

रास–रस–रसिया, रसिक रस केसब जू की,

राधाबर, राधा बिनोद जय गोपाल की।

गोवर्धनधारी, अरु इन्द्र मदहारी की,

पूतना प्रहारी, केसी कंस हू के काल की।।

काली नथैया, भ्रम बिधि के हरैया,

स्याम ब्रज के रखैया सुरभि प्रतिपाल की।

भक्तन रखपाल, अरु साँवरे गोपल जू की,

बोलौ मिलि जय जय सब लाड़िली लाल की।।

रासाम्भ की प्रार्थना :

प्रशस्तिगान के उपरान्त रासमंच पर रासमण्डल में पधारने की प्रार्थना का कम चलता है यह प्रार्थना भी अपने रुप–रंग में विविध प्रकार की है। प्रथम सखियाँ प्रार्थना करती है, तत्पश्चात् यह अभ्यर्थना श्री राधाकृष्ण के बीच पारस्परिक रुप में सम्पन्न होती है। रासारम्भ के लिए प्रार्थना में प्रयुक्त सखियों का एक कवित प्रस्तुत है।

धारियै चरन चारू जमुना पुलिन एहो,

सखी जन बिनती करैं, ताहि न बिसारियै।

सारियै सकल कामना सरस रस की,

रसिकन पिवाय जन जिवाय पन पारियै।।

पारियै पपीयन प्रेम बूंद बरसाय स्याम,

कमल कर उड़ाय बिरह–बिहग कौं बिड़ारियै।

डारियै गरे में गलबैयाँ बनवारी प्यारे,

राधिका–कन्हैया आज रास में पधारियै।।

सखियों द्वारा की गयी इस प्रार्थना के भी अनेक प्रकार है। ब्रजभाषा–गद्य में बहुप्रचलित प्रार्थना का एक रुप द्रष्टव्य है–

प्रथम सखी– 'हे प्रियाप्रीतमजू। आपके नित्त रास कोसयम है गयौ ऐ। सो आप किरपा करिकै रास–मण्डल में पधारौ।

द्वितीय सखी – 'हे प्रियाप्रीतमजू। रासमण्डल में पधारिकै आपहू सुख लेऔ और आपकी अपनी सखीन कौ हू सुख देऔ।'

कभी–कभी रास–मण्डल में पधारने की यह प्रार्थना प्रत्यक्ष न होकर परोक्षविध सम्पन्न होती देखी जाती है। इस विधि के अनुसार पहले सखियाँ परस्पर वार्तालाप के माध्यम से किसी निकुंज में रासबिहारी–बिरिनजू के बिहार करने की इच्छा प्रकट करती है। भक्ति–निकुंज सम्बन्धी श्रीकृष्ण की बिरेच्छा को लेकर सुललित ब्रजभाषा गद्य में एक रासमंचीय वार्तालाप यहाँ उद्धत है–

प्रथम सखी– 'आज प्रियाप्रियतमजू कौन सी कुंज में पधारिगे बीर?

द्वितीय सखी– सखी! आज प्रियाप्रियतमजू भक्ति–निकुंज में पधारिगे।

प्रथम सखी– बा भक्ति–निकुंज को स्वरूप देखौ है बीर?

द्वितीय सखी– हाँ सखी। जहाँ नवधा भक्ति की दिव्यभूमि है, नम्रता की नींव है, दीनता की दरीवार है। जहाँ महिमा की मुडेर है। दान कौ दरबज्जौ है। चाह की चौखण्डी है,

चित–चोंप की चौखट है, तामें सात्विक तृष्णा की तारौ लगि रह्यौ है, भीतर भावना के भवन हैं, क्षाम कौ खम्भ हैख बिरह–ताप की तिबारी है, कल्पना के कोठे हैं, चेष्टा की चित्रसारी है, ता चित्रसारी में परित्रता कौ पलका है, ता पलका में नीतत की निबार है, प्रीत के पाये है, प्रेम की पाटी है, सोभा के सेरे हैं, तापै चातुर्यता की चादर है, तापै गौरव कौ गलीचा हे, सुन्दरता कौ तकिया है, ताकि ऊपर आह्लाह की अटारी है, ता अटारी पै धर्म की धुजा है, ऐसी जो भक्ति–निकुंज हे, ताम्र श्रीलाड़िलीलालजू पधारिगें।

भक्ति–निकुंज के समान ही पुष्पनिकुंज, वस्त्रनिक ुंज, रंगनिकुंज आदि विविध कुंजों के ऐसे वर्णन रासमण्डलियों द्वारा रास मंचन हेतु आज से लगभग 20–25 वर्ष पूर्व प्रयोग में लाये जाते थे, जिनमें श्रीकृष्ण की लीला विहारेच्छा को परोक्षतः व्यंजित करके सखियाँ उनसे रास में पधारने के लिए प्रार्थना करती दिखाई जाती थी, परन्तु आज के लीला प्रदर्शनों में इस परिपाटी का लोंप हो गया है।

निकुंज में पधारने की प्रार्थना के उपरान्त सखियों द्वारा श्रीराधाकृष्ण की अभ्यर्थना प्रारम्भ होती है। यह अभ्यर्थना संस्कृत–श्लोकों एवं ब्रजभाषा–गद्य में इस प्रकार की जाती है–

प्रथम सखी–

मंजु–कुंज–वाटिका सुनाटिका सुमल्लिका।

द्वितीय –

मालभारिनी सुवल्लीवी सुचारूचिल्लिषु।।

तृतीय सखी–

दिव्यचित्रपट्टवास आसनेऽतिसुन्दरे।।

चतुर्थ सखी–

राधिकाब्रजेन्द्रनन्दनी स्मरामि संगतौ।।

प्रथम सखी– हे प्रिय सखि! यसा मनोहर कुंज–वाटिका की नाट्यशाला में बिराजमान श्रीप्रियाप्रियतमजू की या समे कैसीअनुपम शोभा बनी भयी ए!

द्वितीय सखी– अरी देखि! दिव्य–विचित्र मण खचित पट्टासन पै दोऊ गलवैयाँ दिए विराजमान हैं और हमारे तुम्हारे द्वारा समर्पित मालती–मल्लिकान की मालान सौं सोभायमान हवै रहे है।

तृतीया सखी– अरी देखि! कैसे अद्भुद मनेमोहक हाव–भावन सौं वे परस्पर एक–दूसरे कौ मुग्ध करि रहे हैं हमारे जीवनप्रान ऐसे राधा–माधव की सदा जय हो, जय हो।

सखियों के इस जयकार के साथ ही रासदर्शनकों के सम्मिलित जयनाद से रासमण्डल गुजायमान हो उठता है। भक्तिमय वातावरण के बीच सखियाँ पुनः अपना वक्तव्य प्रारम्भ करत हुई कहती है–

प्रथम सखी– अरी बीर! या समै इनकी नित्य नवीन लावण्य–छटा और अनुराग–घटा कूँ देखिकै मेरे मन में एक उपमा उदित भयी ऐ।

द्वितीय सखी– 'सो केसी बीरं?''

उत्तर में वह संस्कृत–श्लोक का पाठ इस प्रकार करती ह–

अये परमद्भुतं किमपि भाँति वृन्दावने।

द्वयं विकचमम्बुजं द्वयमथ विधोर्मण्डलम्।।

मिथः नवसुधा रसास्वादन लोलमेंकं।

महाहिरण्यमिह परं वरं हरिन्मणिवैभवम्।।

तृतीया सखी– अरी प्रिय सखिऔं! हमारे तुम्हारे नेत्रन के सम्मुख श्रीवृन्दावन में कोऊ दो अद्भुद अनिर्वचनीय वस्तु प्रकाशमान ह्वै रहा है, मानो द्वै नील–पीत कमल खिल रहे हौंय अथवा चौंसठ कलान सहित द्वै चन्द्रमा उदय ह्वै आये हौंय–एक गौरचन्द्र और दूसरौ कृष्णचन्द्र।

प्रथम सखी – अरी बीर! अब इनके रासोत्सव कौ समय है गयौ है। सो चलिकैं इनते बिनती करौ।

सम्मिलित स्वर–चलौ सखी।

सखियों द्वारा इस प्रकार के उपरिनिर्दिष्ट सम्वादों में रासलीला स्थली एवं उसकी रंग–सज्जा, लीला विशेष के अभिनय के पूर्व–संकेत एवं उसके अनुरूप वातावरण की सूचना आदि से सम्बद्ध कथनों में सम्भवतः भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नाट्य प्रारम्भ के पूर्वरंग की क्रियाओं का सम्पादन होना ही परिलक्षित होता है। यदि इनमें अन्तर है तो केवल इतना कि भरत के पूर्वरंग की क्रियाएँ नाट्यभिनय को सफल बनाने की दृष्टि से सम्पन्न होती है, परन्तु रासलीला की परिपाटी इनका वैष्णवीकरण करती प्रतीत होती है। सखियों में भक्तिप्रवण कथन रासलीला के भक्त–दर्शक को लीलानुरूप दिव्य–वातावरण में सहज ही ले जाते है, जिससे भक्तिरस की आस्वादयिता सुकर हो जाती है।

रंग–सज्जा

रासमण्डल की रंग–सज्जा अत्यधिक साधारण होते हुए भी अद्भुद प्रभावोतपादन क्षमता से परिपूर्ण होती है। यहाँ रंग–पीठ, रंग–शीर्ष, मत्तवारणी एवं उसके लिए विभिन्न द्वार तथा स्तम्भ आदि की प्राचीन रंग–जटिलता से दूर एक सर्व साधारण रंग–सज्जा ही पर्याप्त मानी जातीा है। फलतः बाह्य सज्जा के अभाव में रासमंच के लीला–पात्रों का प्रभाव प्रत्येक परिस्थिति में मंचीयसज्जा से कभी भी प्रच्छन्न नहीं होता। इ समंच पर दृश्य परिवर्तन हेतु दृश्य पटों की भी अधिक आवश्यकता नहीं समझी जाती। मंचीय उपयोगिता के अनुरूप कोई दो व्यक्ति खड़े होकर जब कभी एक साधारण चादर तान

लेते है और इस प्रक्रिया से नए दृश्य–विधान की व्यवस्था, लीला–पात्र के आगमन एवं निष्क्रमण की रंग–क्रिया तथा किसी अन्य स्थान से सम्बद्ध तात्कालिक दृश्य–नियोजना को सहज ही सम्पन्न कर लिया जाता है। रास–सिंहासन के लिए भी साधारणतया कुछ के चौकियों, कुर्सियों अथवा तख्त डाल कर काम निकाल लिया जाता है। सिंहासन के समक्ष समतल धरातल पर दरी आदि की व्यवस्था होती है, जिस पर रास–दर्शक बैठ सकते हैं रासलीलाभिनय के लिए सामाजिकों के समक्ष–सिंहासन के बिल्कुल समीप 10–15 हाथ मण्डलाकृति स्थान छोड़ा जाता है, जिस पर बिछी श्वेत चांदनी मात्र रंग–सज्जा के लिए पर्याप्त समझी जाती है। रासमण्डल का यह मंच–विधान अपनी रंग–सज्जा के अत्यन्त साधारण होते हुए भी रास–सृष्टि में अपूर्ण क्षमता रखता है आधुनिक युग में रास मंच की रंग–सज्जा अपनी सहजता और स्वाभविकता को त्याग कर कलात्मकता के सम्मोह में कृत्रिमता की ओर बढ़ती जा रही है जिससे उसका भक्तिपक्ष निर्बल पड़ता जा रहा है।

रासमंच के पात्र

रासमंच के पात्रों के 'स्वरूप' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ये सभी स्वरूप ब्राह्मण ब्रजवासियों के बालक होते हैं। इन स्वरूपों की संख्या भिन्न–भिन्न रासमण्डलियों में अलग–अलग देखी जाती है। पहले इन स्वरूपों में श्रीकृष्ण, श्रीराधा और इनके साथ ललिता विशाखा आदि सखियाँ ही होती थी। अब इन संख्या सामान्यतः आठ तक देखी

जाती है। लीला विशेष की आवश्यकतानुसार महादेव, नन्द, यशोदा, उद्धव, अक्रूर, कंस आदि की भूमिका समाजी वर्ग के लोगों द्वारा निभाई जाती है। कभी–कभी इस प्रकार के स्वरूपों का कार्य रास–प्रेमी महात्मा भी करते देखे जाते हैं।

रासमंच की दृश्य परिवर्तन व्यवस्था

साधारण दृश्य–पट के अतिरिक्त वर्णनात्मक छन्दों के गान द्वारा भी दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता को पूरा कर लेना रसमंच की विशेषता है। इस विधा के द्वारा समाजी एक क्षण में रास–दर्शक को लीला की वांछित भावभूमि में ले जाने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार स्थान परिवर्तन के लिये रंगमंच पर दो पग इधर से उधर चलना मात्र अभिष्ट प्रभाव को उत्पन्न कर देता है। समय–परिवर्तन का बोध भी लीलाओं के अभिनय में गान–पद्धति द्वारा करा दिया जाता है। इस प्रकार देशकाल अथवा कार्य की कोई सीमा रास के इस खुले मंच को बाँध नहीं सकी है। रासलीलाओं में मध्यान्तर एवं अन्तराल की भी कोई व्यवस्था नहीं की जाती है। जहाँ कहीं किसी विशेष कारण से मंच के रिक्त को भरने की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ रास का यह खुला मंच संकीर्तन–प्रणाली को अपना लेता है। रास की इस संकीर्तन–प्रणाली में लीला का पात्र भी बोलता है और रास का दर्शक भी उसका अनुगमन करता है। वस्तुतः यह रासमंच की ही विशेषता है, जहाँ श्रोता रासमंच के पात्र की भूमिका में सीधा आ जाता है।

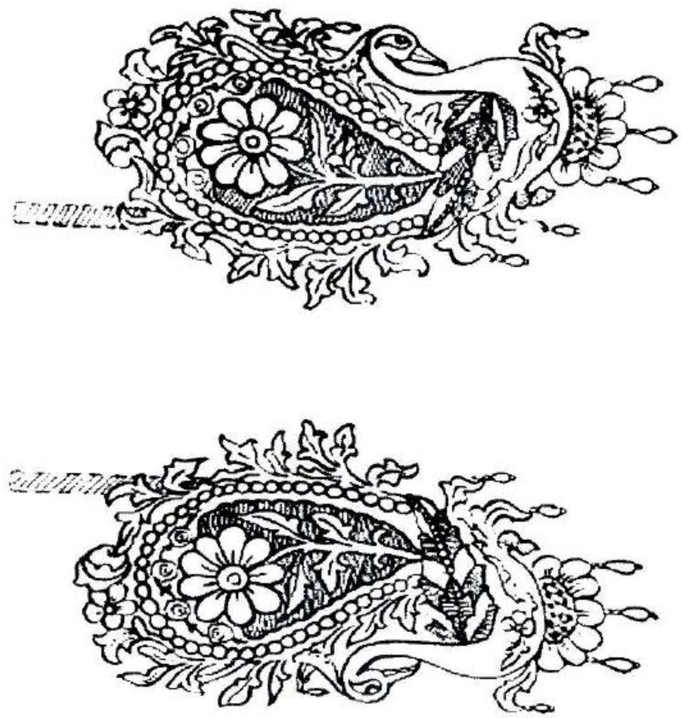

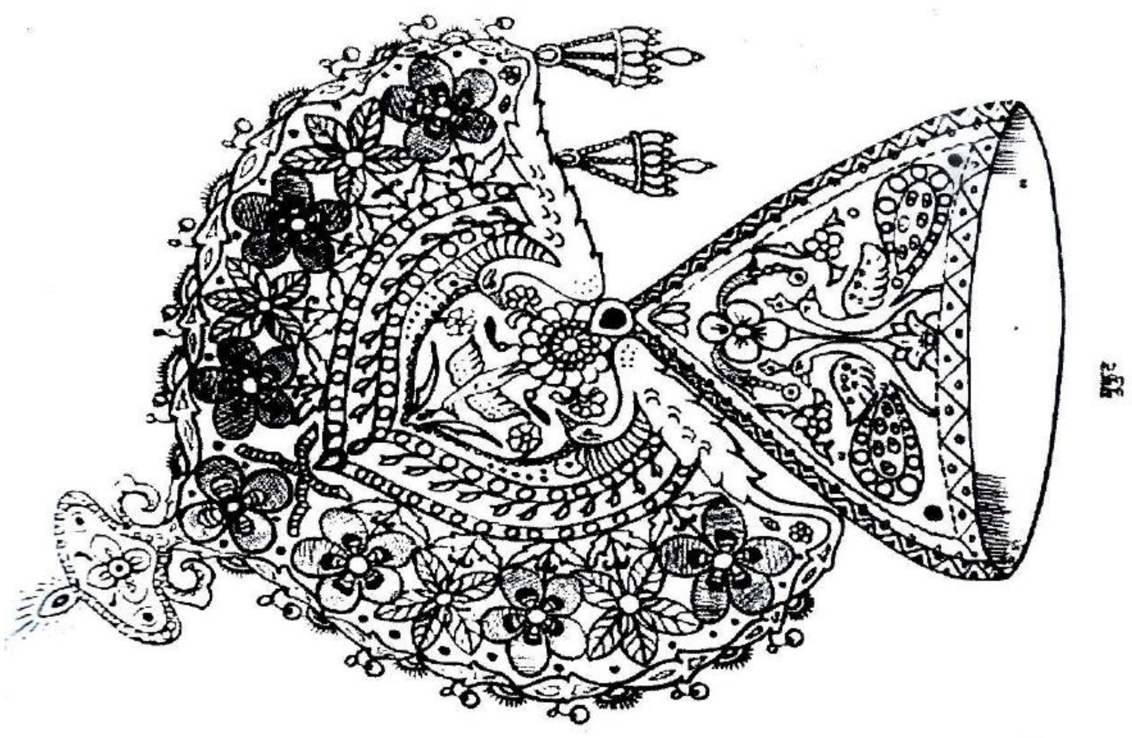

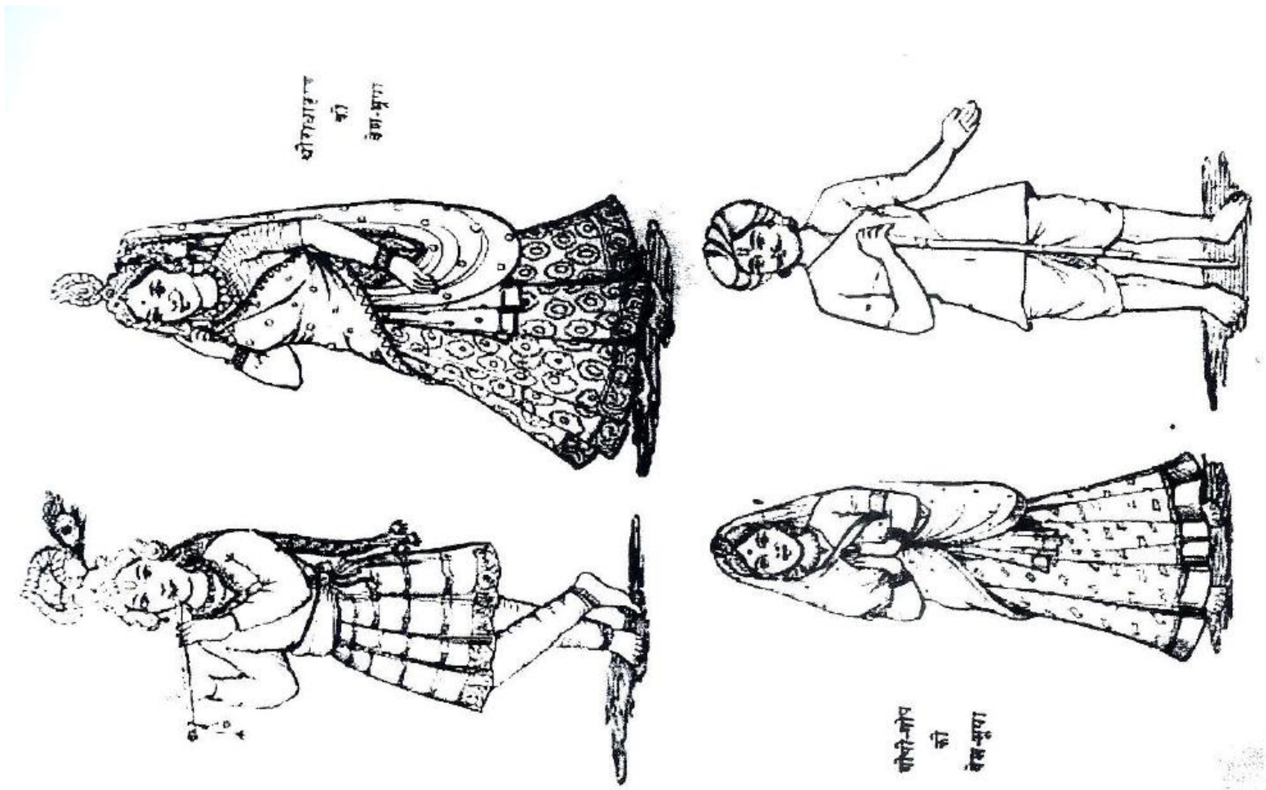

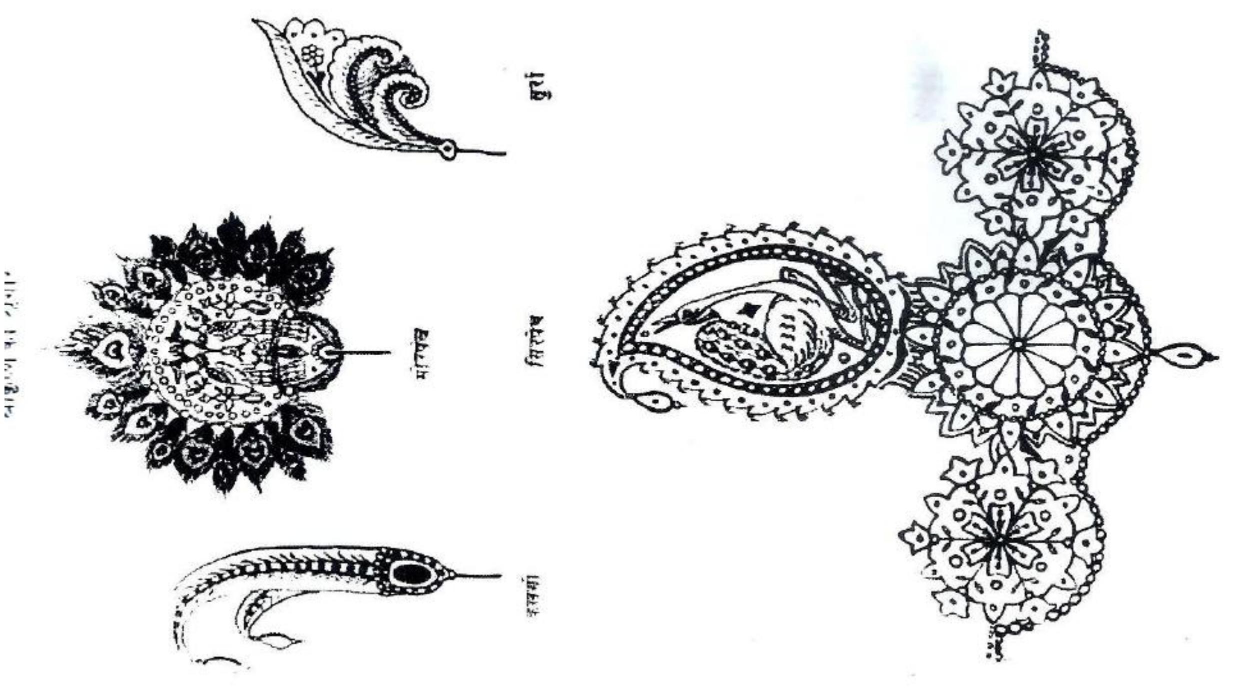

उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद की रासलीला के कुछ दृश्य

<u>उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद की रासलीला के कुछ दृश्य</u>

उत्तर प्रदेश की लोक–विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान

जूनियर फेलोशिप की तृतीय रिपोर्ट
(१ जनवरी २०१७ से ३० जून २०१७)

सोनी कुमार गुप्ता

फाईल नं0– CCRT/JF-3/30/2015

पत्र संख्या – CCRT/JF-3/30/2015/31225

Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts

Sub Field:- Folk Theatre

36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli

Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India

: 7668220333

Email Id: sonikumar05@gmail.com

सेवा में,

निदेशक,
सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (CCRT)
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली।

विषय :– जूनियर फेलोशिप की तृतीय रिपोर्ट के सम्बन्ध में

संदर्भ – फाईल नं. –CCRT/JF-3/30/2015

महोदय,

मैं सोनी कुमार गुप्ता आपके सुलभ संदर्भ हेतु अपनी कनिष्ठ अध्येतावृत्ति **"उत्तर प्रदेश की लोक विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान"** की तृतीय छमाही की रिपोर्ट प्रेषित कर रहा हूँ जो कि 01 जनवरी 2017 से 30 जून 2017 के मध्य तैयार की गयी है।

आपसे विनम्र निवेदन है कि तृतीय छमाही का भुगतान अतिशीघ्र करने की कृपा करें।

धन्यवाद!

आपका आज्ञाकारी

(सोनी कुमार गुप्ता)
फाईल नं0–CCRT/JF-3/30/2015
पत्र संख्या –CCRT/JF-3/30/2015/31225
Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts
Sub Field:- Folk Theatre
36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli
Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India
Mob: 7668220333
Email Id: sonikumar05@gmail.com

श्री लल्लू लाल गुप्त

(मीडिया प्रवक्ता, श्री पथरचट्टी रामलीला कमेटी प्रयाग)

श्री सुधीर गुप्ता

(अध्यक्ष, श्री कटरा रामलीला कमेटी प्रयाग)

श्री अश्विनी अग्रवाल

(निर्देशक, श्री पथरचट्टी रामलीला कमेटी प्रयाग)

से बातचीत के आधार पर............................

हिन्दी–रंगमंच और रामलीला

हिन्दी–रंगमंच के नाम पर भारतेन्दु–युग तक मात्र थियेटर शब्द का प्रयोग धड़ल्ले से होता था। तब ऐसा कोई रंगमंच नहीं था जिसे सच्चे अर्थों में रंगमंच की संज्ञा दी जा सके। भारतेन्दु बाबू के कथनानुसार सबसे पहला खेला जानेवाला नाटक 'जानकी–हरण' था जिसे सन् 1862 में बनारस थियेटर में अभिनीत किया गया था।

यों यह सत्य है कि संस्कृत में नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत रंगमंच का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है, पर हिन्दी नाटकों पर रंगमंच की दृष्टि से सीधा प्रभाव पारसी रंगमंच का है। यह पारसी रंगमंच चलचित्रो के आविष्कार के पूर्व पूरे भारत में लोगों के मानस को प्रभावित कर रहा था। रंगीन पर्दें तरह–तरह की सीन–सीनरियों के साथ ही संगीत और नृत्य के प्रदर्शन में देशी–विदेशी दोनों प्रकार के कलाकार भाग लेते थे। पारसी कम्पनियों का वास्तविक केन्द्र बम्बई, कलकत्ता, गुजरात और दिल्ली जैसे बड़े–बड़े नगरों में हुआ करता था। बम्बई में 'द न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' और पारसी कम्पनी का बोलबाला था तो गुजरात और काठियावाड़ में 'सूर विजय कम्पनी' अधिक सक्रिय थी और कलकत्ता में 'विक्टोरिया कम्पनी' अपनी लोकप्रियता में अग्रसर हो रही थी। यह सब आकर्षण होते हुए भी जिसे शिष्ट रूचि और मर्यादित दृष्टि के रूप में अभिनित किया जाता है, उसका इन कम्पनियों में सर्वथा अभाव था। अतः इसकी तीखी प्रतिक्रिया स्वयं भारतेन्दु के मानस में हुई थी और उन्होंने इन व्यावसायिक रंगमंच से पृथक् एक साहित्यिक या अव्यावसायिक रंगमंच के अभाव का अनुभव किया था और हिन्दी में ऐसे नाटकों की रचना की जो साहित्यिक रंगमंच के

सर्वथा अनुरूप थे। किन्तु विचारणीय यह है कि रामलीला को अभिनय के रूप में प्रस्तुत करते समय कौन–से रंगमंच का अनुसरण किया गया। वस्तुतः रामलीला न तो साहित्यिक रंगमंच के अन्तर्गत आती है और न व्यावसायिक रंगमंच से ही वह पूर्णतया प्रभावित है। प्रारम्भ में रामलीला का आरम्भ एक धार्मिक वृत्ति से प्रेरित होकर ही हुआ था और यह परम्परा आज भी कायम है। हाँ, यह अवश्य है कि अब भोंड़े प्रहसन और नृत्यादि मनोरंजन की बातों का भी सम्यक् रूपेण समावेश किया जाने लगा है।

रंगमंच की दृष्टि से रामलीला के दो रूप हमें मिलते है–

1. पारसी रंगमंचीय रामलीला
2. लोक नाट्यशैली की रामलीला

पारसी रंगमंच की प्रमुख विशेषता यह है कि उसे बजाय 10 दिन खेलने के एक दिन में (3 या 4 घण्टे में) समाप्त कर दिया जाता है। पारसी रंगमंचीय नाटक के लेखक पं0 नारायण प्रसाद बेताब का 'रामायण नाटक' इसी तरह का है। कुछ इसी प्रकार की शैली में मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिबाँ' ने भी 'रामायण नाटक' की रचना की है। नाटकीय शैली में रचित कुछ ऐसे रामाख्यानक नाटक देखने को मिलते है जिनमें लोकनाट्य शैली और पारसी रंगमंचीय नाट्य शैली का मिश्रण है। बन्दीदीन दीक्षित का 'सीता–स्वयम्बर' और रामगुलाम का 'धनुष–यज्ञ' नाटक इसी कोटि में आता है।

वस्तुतः रामलीला को दृष्टि में रखकर जो ग्रन्थ लिखे गये, उन्हें देखने में स्पष्ट पता चलता है कि रचयिता का एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन न होकर राम–कथा का प्रचार और भारतीय मर्यादा और उसकी सांस्कृतिक गरिमा की रक्षा करना है। काशी में होने वाली राम नगर की रामलीला हमारे कथन का ज्वलन्त प्रमाण है। वहाँ लंका, अयोध्या आदि विविध स्थान बना दिये गये है, जहाँ पर्दे आदि का विशेष प्रयोग न करके उन्मुक्त और खुले ढंग से रामलीला अभिनय का आयोजन किया जाता है। नाटक से सर्वथा भिन्न व्यासों के संकेत पर रामलीला के पात्र गद्य का विशेष प्रयोग न करते हुए अनके छन्दों में ललित कण्ठ से अपनी संवाद–चारूता से जन–मानस को अभिभूत कर लेते हैं। रामलीला के आधारभूत ग्रन्थों में केशव कृत 'राम चन्द्रिका' रघुराज सिंह का 'राम स्वयम्बर' रसिक बिहारी का 'राम रसायन', बाबू वसुनायक सिंह का 'रामलीला रामायण' आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें नाटकीयता या रंगमंचीय शिल्प का पूर्ण अभाव है, फिर भी प्रसंगगत अनेक छन्दों का चयन और उन्हें नाट्य शैली के सूत्रों में अनुस्यूत करने की कला सराहनीय है।

रामलीला की भाँति लोक–नाट्य शैली का प्रभाव नौटंकी में भी लक्षित होता है। कानपुर और हाथरस में किसी समय नौटंकी का काफी प्रचार–प्रसार था। अब अपेक्षाकृत इसका स्वंय क्षीण हो चुका है। रामलीला में कभी–कभी राधेश्याम रामायण के साथ ही नौटंकी की ध्वनि भी बीच–बीच में मुखरित हो जाती है।

रामलीला के अधिकांश ग्रन्थों में गद्यात्मक शैली का प्रयोग बहुत कम किया गया है। कविता और संगीत तत्त्व के समावेश से रामलीला की सरसता स्वाभाविक

रूप में बढ़ जाती है। कानपुर के राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' स्वयं 'धनुष यज्ञ' लीला कराया करते थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक छोटी–सी पुस्तक भी लिखी थी जिसमें दादरा, लावनी, गज़ल, ठुमरी आदि तर्ज में बड़ी सरस रचनाएँ देखने की मिलती है। यद्यपि वह पुस्तक अब प्राप्त नहीं होती, पर उसके कितने सरस छंनद और गीत आज भी मेरे मानस में जीवित है।

रामलीला के कुछ विशिष्ट आख्यान को दृष्टि में रखकर भी नाटक लिखे गये हैं। यही नहीं, रामलीला की अन्तकथाओं और उत्तर रामचरित को भी ऐसी नाट्य शैली के ग्रन्थों में उभारने की पूर्ण चेष्टा की गयी है। काशी रंगमंच की शैली में रचित होने पर भी इन नाटकों में काफी रोचकता है। स्वयं आगाहश्र कश्मीरी ने 'सीता वनवास' नाटक लिखकर जितनी ख्याति और धन उपार्जित किया है, शायद अन्य नाटककारों को ऐसा सुयोग नहीं मिला। चरखारी नरेश ने आगाहश्र को रखकर उनसे यह नाटक लिखवाया था और जहाँ यह नाटक अभिनीत हुआ था, वह रंगमंच भी अभी मौजूद है। इसी प्रकार रामायण की अन्तर्कथा से सम्बद्ध 'श्रवण कुमार' नामक नाटक पं0 राधेश्याम कथावाचक ने लिखा था जिसे न्यू इलफ्रेड और सूर विजय नाटक कम्पनी ने न जाने कितनी बार अभिनीत करके यश और धन दोनो की यथेष्ट प्राप्ति की थी।

गाँवों में होने वाली रामलीला का उद्‌देश्य मात्र विद्युत्–प्रभा और रंग–बिरंगे पर्दों से लोगों को अनूरंजित करना नहीं है, बल्कि राम–कथा की मधुर–ध्वनि से आस–पास के वातावरण को गुञ्जारित करना ही मुख्य लक्ष्य है। वहाँ रंगमंच के नाम

पर एक या दो सामान्य पर्दें होते हैं। यथेष्ट सीन आदि को प्रदर्शित करने का न तो साधन उपलब्ध हो पाता है और न रामलीला की महत्ता के अनुरूप उन्हें रंगमंच ही प्राप्त हो पाता है। हाँ, यह अवश्य है कि नगरों की रामलीला में नव–नव दृश्यों की अवतारणा पर भी बल दिया जाता है। हमारे बचपन में मुँगेर आदि जिलों से जो नाटक कम्पनियाँ आती थीं उनके द्वारा अभिनीत रामलीला में काफी आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता था। स्थानीय कृष्णानन्द की मण्डली की भी रामलीला देखने का सुयोग मिला है। यह मण्डली बेतिया की रानी के आर्थिक सहयोग से चला करती थी। कम्पनी के संचालक कृष्णानन्द और पूरनचन्द नाम से चला करती थी। कम्पनी के संचालक कृष्णानन्द और पूरनचन्द नाम के एक पंजाबी सज्जन, जो प्रहसन में बहुत दक्ष थे, के निधन हो जाने पर कम्पनी बिलकुल समाप्त हो गयी। पारसी रंगमंच के अधिक विकिसत रूप चलचित्रों में दिखाई पड़े। सम्प्रति टेलीविजन पर रामानन्द सागर द्वारा संचालित रामलीला का कार्यक्रम निश्चय ही अधिक ललित तथा महत्त्वपूर्ण है और यह जनमानस को प्रभावित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर रहा है।

आधुनिक भारत में श्री रामलीलाओं की प्रासंगिकता

भारतवर्ष में रामलीलाएँ करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। श्री राम हमारे देश के जन–मानस में इस प्रकार घुल–मिल गये है कि उनकी मोहिनी सूरत के दर्शन बिना, उनके गुण–गान किये बिना इस देश के लोगों की नींद ही नहीं आती। श्री राम तो मानुष देहधारी एक महापुरूष थे अतः अपनी वास्तविक लीलाएँ समाप्त करके वे नियति के अनुसार देह त्यागकर परलोकगामी हो गये। ऐसी स्थिति में उनकी लीलाओं के शाश्वत और सार्वकालिक दर्शन सम्भव नहीं थे। परिणामस्वरूप उनके प्रेमियों और श्रद्धालुओं ने बनावटी श्री राम, माँ जानकी, लक्ष्मण जी, भरत आदि की सृष्टि कर ली और उनकी लीलाएँ करना प्रारम्भ कर दिया। वे इन लोगों की प्यारी, मोहक, आदर्श और समाजोपयोगी लीलाएँ देख–देखकर भाव विभोर होने लगे। सम्भवतः श्रीराम और श्रीकृष्ण की लीलाओं के प्रचलन में आने का यह मूल आधार था। कालान्तर में शास्त्रकारों, कवियों, नाटककारों ने इन लीलाओं को साहित्यिक आधार भी दिये और कुल मिलाकर समाज में लीलाएँ करने की प्रथा चल निकली। इन लीलाओं के रूप निखारने और इन्हें समाजापयोगी बनाने में महाकवि वाल्मीकि, कालिदास और गोस्वामी जी के कार्यों को भुलाया नहीं जा सकता। कालान्तर में लोक–कलाकारों ने, व्यावसायिक संस्थाओं ने और धार्मिक मंचों ने इन्हें विविध रूप प्रदान किये। ये लीलाएँ आदिवासी क्षेत्रों से लेकर बम्बई और दिल्ली जैसी महानगरियों में नियमित खेली जाती हैं और लोग बड़े प्रेम, आदर और श्रद्धा से इन्हें देखते है। देश के बाहर भी इन्हें खेलने का प्रचलन है। दक्षिण–पूर्व एशिया, रूस,

चेकोस्लोवाकिया, फ्रांन्स, मारिशस और न जाने कितने देशों में लोग अपने–अपने ढंग से इन लीलाओं का आनन्द लेते हैं। इस व्यापक प्रचार–प्रसार से इन लीलाओं का आनन्द लेते है। इस व्यापक प्रचार–प्रसार से इन लीलाओं की लोकप्रियता और प्रासंगिकता की बात प्रमाणित होती है।

श्री राम ने अपने युग में अवतरित होकर पृथ्वी को रावण के भार से मुक्त किया। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास ने अपने–अपने कालों में अपनी कृतियाँ समाज को देकर हिन्दुत्व और मानवता की आततायियों से रक्षा की। इस युग में जब कि सम्पूर्ण मानवता अपने वास्तविक मार्ग से विचलित हो गयी है और विशेष रूप से भारतवर्ष आपसी वैमनस्य, द्रोह, साम्प्रदायिकता, धर्मान्ता और न जाने कितने पापों और विकारों ने लोगों को न्याय और सत्य से च्युत कर दिया है, इन लीलाओं की और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि श्रीराम और उनके चरित्र में कोई मोहिनी शक्ति न होती, कोई आश्चर्यजनक आकर्षण न होता तो आज हजारों साल बाद भी वे जन–जन के कण्ठहार बनकर सुशोभित नहीं होते। कौन नहीं जानता कि लाखों और करोड़ों सुन्दर–से–सुन्दर साहित्यिक कृतियाँ प्रकाश में आने के बाद भी श्रीराम और श्रीकृष्ण आज दुनिया के पाठकों के सिरमौर बने हुए हैं। इन महापुरूषों को लेकर विश्व में जितने ग्रन्थ लिखे गये उतने शायद अन्य किसी भी नायक को लेकर नहीं। फिर इन लीलाओं की प्रामाणिकता और प्रासंगिकता पर सन्देह किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। आज भी श्रीराम–कथा और श्रीराम–लीला के नाम पर गाँवों से शहरों तक हर वर्ग के लोग क्यों दौड़ पड़ते है? केवल इसीलिए कि इन लीलाओं में

मानसिक सन्तोष और आध्यात्मिक प्यास बुझाने की अलौकिक शक्ति है। इनमें एक जादू है जो सब पर छा जाता है।

यदि हम एक दृष्टि आज के भारतवर्ष पर डालें तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। हम पाश्चात्य् संस्कृति से किस प्रकार प्रभावित हो रहे हैं। हम वास्तव में पश्चिमी सभ्यता की बाढ़ में बहते जा रहे हैं और हमें किनारों की चिन्ता नहीं। हम आवश्यकता से अधिक वास्तविक और वैज्ञानिक बनने का स्वाँग रच रहे है। अपनी इस प्रवंचना में अपने संस्कृति और प्राचीन घरोहरों का मजाक उड़ा रहे है। हमारी परम्पराएँ हमें विचित्र लग रही हैं, हमें हमारे वेदशास्त्र कल्पना प्रतीत हो रहे हैं। हमारे साहित्य हमें अतिरंजना लग रहे है और हम स्वयं को असहाय और असमर्थ पा रहे हैं। हम परावलम्बी और परजीवी बनते जा रहे हैं। हमें अपने पर भी विश्वास नहीं है और प्रतिक्षण विदेशों की ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं। उधर की सभ्यता का ढोंग पीट रहे हैं तथा यथार्थ और वैज्ञानिकता के नाम पर अपनी हँसी उड़वा रहे हैं।

दूसरी तरफ विदेशों के लोग हमारे प्राचीन ज्ञान को नया रंग देकर सारी दुनिया के अगुआ बन रहे हैं। हमारा ही ज्ञान हमें सिखा रहे हैं, और हम उनको ऋणी बनते जा रहे हैं। क्या हमारे लिए यह लज्जा की बात नहीं? क्या हमारे लिए यह चूल्लू भर पानी में डूब मरने की बात नहीं? आज अपने धर्म और संस्कृति पर गर्व करने की आवश्यकता है, आज अपनी परम्पराओं और प्रथाओं को विश्व में फैलाने की आवश्यकता है। तभी हम अपना खोया गौरव प्राप्त कर सकते हैं।

रामलीलाएँ अपनी इसी प्राचीनता और संस्कृति की धरोहर हैं, थाती हैं। हमें इनके माध्यम से श्री राम, माँ सीता, भाई लक्ष्मण–भरत, माता कौशल्या, पिता दशरथ आदि के उदात्त और आदर्श चरित्रों का प्रचार–प्रसार करना है, इनकी अच्छाइयाँ अपनानी हैं। अपने भीतर इनके मानवीय गुणों का विकास करना है। इन्ही की बदौलत दुनिया में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ी है, हमारा मान हुआ है। लोग हमें जानते है और हमारी बात की कीमत रखते है। वरना अणु और परमाणु के इस नये युग में हमारी क्या विसात थी।

आधुनिक भारत के रसहीन वातावरण में जब कि पाश्चात्य संस्कृति का रंग अच्छी तरह घुलकर चारों तरफ शुष्कता और नीरसता उत्पन्न कर रहा है, श्रीराम के आदर्श चरित्र और उनकी लीलाओं की सरस मेघमाला प्रेम और शान्ति की फुहार देकर एक नयी हरियाली उत्पन्न कर सकती है। इस परिस्थिति में इनकी नितान्त आवश्यकता है और इनकी प्रासंगिकता निर्विवाद है। अत्यधिक भौतिकवादी और व्यवहारवादी हो जाने के बाद आदमी की अपनी निजता और अस्मिता जाती रहती है। आत्मिक शान्ति और हार्दिक सुख–चैन खोकर वह झूठ और फरेब की मृग–मरीचिका में भटकना प्रारम्भ कर देता है और इस प्रकार सब–कुछ लुटा देता है अपना। हारकर वह धर्म और आध्यात्मिक विचारों की शरण लेता है। शायद यहीं उसकी प्यास बुझती है। अमरीका और यूरोपीय देशों के हिप्पी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। बड़ी–बड़ी अट्टालिकाओं वाले महानगरों के बीच में बगीचों की आवश्यकता पड़ती है, प्रकृति और हरीतिमा से दूर बड़े–बड़े कमरों में पेड़–पौधों और फूलों की भी जरूरत महसूस

होती है। शायद इसी से आदमी को भौतिकता से थककर अचेत और मूर्च्छित होने की अवस्था में जाने को हाता है तो हमारा धर्म, हामरी संस्कृति, हमारी परम्पराएँ, हमारी प्रथाएँ, हमारी रीति–रिवाज ही हममें आक्सीजन देकर प्राण फूँकते हैं।

क्या यह भी बताने की जरूरत है कि जब हमारे सारे सहारे टूट जाते है तो हम श्री राम को स्मरण करते हैं। हर तरफ से निराश होकर हम श्री राम की शरण जाते हैं और जब हमारी अन्तिम साँस टूटती है तो 'राम' ही हमारे साथ होते हैं। यदि श्री राम हमारे जीवन के आधार हैं तो उनकी लीलाएँ इन आधारों के सूत्र। हम न तो 'राम' से अलग हो सकते हैं, न 'राम' हमसे और न ही उनकी लीलाएँ।

विजय पर्व में रामलीला का औचित्य

सत् और असत्, पाप और पुण्य, अन्धकार और प्रकाश, देव और दानव का संघर्ष चिरन्तन है। सृष्टि के आदिकाल से ही सह संघर्ष चला आ रहा है। भले ही सत् तत्त्वको अपनी विजय के लिए काफी परेशानी उठानी पड़ती हो, यंत्राओं को गले लगाना पड़ता हो, पर देर–सबेर उसकी ही विजय होती है। भारतवर्ष क्या विश्व के महाकाव्यों में इसी संघर्ष और सत् की विजय का आख्यान है। सच पूछिए, तो यही सत्य जीवन को गति देता है, सम्बल देता है। यह सज्जन, सन्त, भले को कभी न निराश होने देता है और न सत्य–पथ से मुँह मोड़ने देता है। बाह्य जगत् की भाँति अन्तर्जगत् में भी देव–दानव का संघर्ष चलता ही रहता है। मनुष्य कुछ करना चाहता है– दोनो प्रवृत्तियों में द्वन्द्व छिड़ जाता है। जो प्रवृत्ति शक्तिशाली हुई, उसकी विजय हुई। यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह किस प्रवत्ति को प्रोत्साहन और प्रश्रय देता है। रत्नाकर का वाल्मीकि होना दानवता से देवत्व की ओर प्रयाण है; और है देवत्व की विजय। हमारे पर्व–त्यौहारों में इस संघर्ष और विजय का चित्र और सन्देश प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। दुर्गा–पूजा उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

दशहरा विजय का पर्व है–

देवी दुर्गा शक्ति की देवी हैं। उन्हे, अपने कोमल करो में शस्त्र धारण करना पड़ता है। शुम्भ–निशुम्भ, मधु–कैटभ का वध करना पड़ता है। कुसुम सदृश कोमल दुर्गा कितनी दुधर्ष हो जाती हैं, कितना भयानक और विकराल रूप हो जाता है

उनका। इसलिए कि असत् का बोलबाला हो गया है, आसुरी शक्तियाँ रक्तबीज के समान बढ़ रही हैं। चण्डी सप्तशती में उन्होंने अपने अवतार का कारण बतलाया है।

इत्थ यदा यदा बाधा दानवील्या भविष्यति।

तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम्।।

दुर्गा, जिसका अर्थ है, 'दुग्रति नाशिनो', अपने विजय–अभियान में सफल होती हैं। सज्जनों की विजय पताका फतराती है। उनकी आराधना, अभ्यर्थना, पूजा के द्वारा एक ओर उनकी स्मृति हरी होती है, दूसरी ओर हम भी शक्ति कासंचय कर उनका दाक्षिण्य पाकर समरभूमि में कूद पड़ते हैं। देवी मनुष्य को सदा वरदान देती आयी हैं, बशर्ते मनुष्य आत्म–समर्पण कर सके,उनके प्रतिआस्था की लौ स्थिर कर सके। दूसरी ओर यह राम की विजय का पर्व है। राम–रावण का सघर्ष सत्–असत्, देव–दानव का सघर्ष है। यह आर्य और अनार्य संस्कृति का संघर्ष है, जिसमें राम को विजय मिलती है, दुर्गा की कृपा से। दशमी के दिन वे रावण पर विजय प्राप्त करते हैं और इस तिथि को विजयदशमी के रूप में मनाया जाता है। यह इस तथ्य की खुली घोषणा है कि जो न्याय, धर्म, नैतिकता के लिए हर प्रकार की कुर्बानी देने को तैयार है, यन्त्रणाओं को गले लगाता है, जद्दोजहद झेलता है, उसी पर दुर्गा की भी कृपा होती है और उसकी विजय निश्चित है। जिस प्रकार शुम्भ–निशुम्भ, मधु–कैटम का वध मानवता के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार रावण का वध भी। दोनो की विजय का पर्व है यह। दुर्गा और राम दोनों अवतार हैं, दोनों का अभीष्ट एक है।

दशहरे में रामलीला का औचित्य –

राम का चरित्र जन–जन में इतना व्यापक है, वह इतना बड़ा लोकनायक है कि उसे एक क्षण के लिए भी विस्मृति के गह्वर मे नहीं डाला जा सकता है। वह मानव जाति के रोम–रोम में रमा है, इसलिए वह राम है। राम अपने विराट् लक्ष्य के सन्धान में सफल हो जाते हैं। अतएव, इस तिथि की स्मृति को ताजा बनाये रखने के लिए अनुकरणीय आदर्श की स्थापना के लिए रामलीला का विधान है। इसका भी मुख्य आकर्षण रहता है रावण का विशाल पुतला बनाकर उसे अपार जन–समूह के समक्ष जलाना। यह इस बात का सबूत देता है कि जगत् को रूलाने वाला रावण आसुरी शक्तियों से सम्पन्न रावण सत् के प्रतीक राम से हार जाता है, रथी और विरथों की लड़ाई में विरथी (राम) की ही विजय होती है।

इसके साथ चलती है राम की नाना लीलाएँ। उनके पावन चरित्र और क्रिया–कलापों का गायन। मन्त्रमुग्ध हो जाती है जनता रामलीला के मैदान में ,चित्रलिखी–सी देखती रह जाती है लीला। एक ओर तो पूजा के अवसर पर उनका सात्त्विक मनोरंञ्जन होता है, अधमुखी चेतना का ऊर्ध्वीकरण भी, दूसरी ओर महान् आदर्श की अवधारणा पलने लगती है मन में। जीवन में कोई आदर्श नहीं हो, राम के जैसा लोकसंग्रह का लक्ष्य नहीं हो, तो वह प्राणहीन मृत उपवन बन जाता है। हमारे पाँव भले ही जमीन पर हों, पर सिर आसमान में ही रहता है। वास्तविकता की जमीन पर रहकर भी हम आदर्श (आसमान) में ही साँस लेते हैं। रामलीला ऐसे ही आदर्श की प्रतिष्ठा की जननी है।

नाना वैभिन्य, पारस्परिक, ईर्ष्या–द्वेष की विषम परिस्थितियों के मध्य भी भरत–मिलन का समाँ मितना पावन है, कितना प्रेरक–ऐसे पुण्यश्लोकी वातावरण में ही सच्चे भ्रातृत्व की उदय होता है। सकीर्णता की परिधि लाँघकर मनुष्य व्यापकता की ओर प्रयाण करता है। यही राष्ट्रीय एकता और विश्वबन्धुत्व का प्रेरक है। इस प्रकार दशहरा पर्व बहुमुखी उद्देश्य के साथ आता है, सत् की विजय की दुन्दुभी बजाता हुआ, राम की विजय–पताका फहराता हुआ, रामलीला में मानव–मन को रमाता हुआ, पुण्यमय वातावरण का निर्माण करता है। इस अवसर पर देवी दुर्गा और मर्यादा पुरूषोत्तम राम दोनों की आराधना वाञ्छनीय है, दोनों सत् के प्रतीक और असत् पर विजयी हैं।

आज के सन्दर्भ में : रामलीला की उपयोगिता और महत्व

रामलीला, आज किसी परिचय की मुहताज नहीं रही है। कारण है–अखिल भारत से लेकर बृहत्तर भारत और यूरोप के नाना देशों तक निरन्तर इसका ख्यात और लोकप्रिय होते जाना, सामान्य जन–समाज से लेकर देशी–विदेशी विद्वत् वर्ग तक इसको अपनाया जाना तथा सबसे अधिक इसका अधिकाधिक प्रचार–प्रसार और लोकप्रिय बनते जाना। दूसरी ओर, यही भी एक कड़वा स चहे कि आज, स्वयं भारत में ही, 'कान्वेटी छाप', राम की 'रामा' और तुलसी की 'टुलसी' कहनेवाला, तथाकथित 'सभ्य', 'महानगरीय' और 'उच्च शिक्षित' वर्ग ऐसा भी है जो 'रामलीला' की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है, इसको 'परम्परा का अन्धानुकरण' कहकर झुठलाता है और अपने बौद्धिक–वैज्ञानिक तर्क दे–देकर 'नकारता' और समग्रतः अनुपयोगी बताता–ठहराता है। निश्चयतः, हमारा सत्ताधारी वर्ग और तथाकथित धर्म–निरपेक्ष उदारवादी वर्ग भी इसको 'हिन्दुत्व' तक सीमित मानकर मात्र 'हिन्दुओ की एक धार्मिक प्रथा' स्वीकारता है। निः सन्देह यह परस्पर विरोधाभासमयी स्थिति बाध्य करती है– रामलीला की उपयोगिता पर पनुर्विचार करने की, इसका तटस्थ, निर्लिप्त मूल्यांकन करने को तथा समग्रतः 'नीर–क्षीर भरा सत्य' प्रकट करने को।

सामान्यतः रामलीला एक नाट्यरूप है जिसमें राम का जीवनवृत्त अभिनयादि द्वारा, दर्शकवृन्द के सम्मुख दोहराया जाता है, दिखाया जाता है। परम्परा से, इसका समय दशहरा–पूर्व नवरात्र और रामनवमी वाला रहता है। स्थान ौर सुविधादि से, यह समयावधि एक सप्ताह से लेकर एक मास तक होती है तथा स्थानीयता, परम्परा और

जन–रूचि आदि से यह एक या अनेक, चल अथवा अचल, मूक अथवा सवाणी (सम्वादमयी) किसी भी प्रकार से व्यक्त की जा सकती है। सवारी, चौकियाँ, झाँकियाँ आदि पर भी यही स्थानीयता की बात चरितार्थ होती है तथा इसके समय–दिन अथवा रात–पर भी। हाँ, राम की लीला (राम द्वारा किये गये कार्यों का अभिनय) और राम–वृत्त सब में रहता है।

इतिहास में झाँके तो, राम–काव्य के प्रथम प्रणेता आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने ही अपने आदिकाव्य 'रामायण' का गायन–स्वयं राम की राज–सभा में और स्वयं राम के पुत्रो–लव–कुश से कराया था, यद्यपि कालान्तर में 'कुशीलव' नट या अभिनेताओं को ही माना गया। तत्पश्चात् संस्कृत का राम–विषयक विपुल नाट्य साहित्य, प्राकृत–अपभ्रंश के नाट्यकाव्य (Dramatic Poetry) और तुलसी–पूर्व युग तक के नाना नाटक, नाट्यकाव्य, महाकाव्यादि इसी श्रृंखला की कड़ियाँ थी। लेकिन ये सब नाटक थे, रामलीला नहीं।

रामलीला के श्रीगणेशकर्त्ता थे–श्री तुलसीदास, जो कोरे महाकवि, परम राम–भक्त और युगीन रामकाव्यकार ही नहीं थे, इस सबसे अधिक जागरूक भारतीय, उच्चकोटि के अध्येता, विशिष्ट और महत् व्यक्तित्व के धनी, युगद्रष्टा, युगस्रष्टा और समग्रतः युगनायक तथा लोकनायक थे। उन्होने केवल 'स्वान्तः सुखाय' नहीं 'लोकहिताय' या कहिये 'सर्वसुखाय' मानसादि ग्रन्थों की रचना की, युग–आवश्यकता की पूर्ति करते हुए, काशी नगरी में विभिन्न मन्दिरों–अखाड़ों की स्थापना की तथा 'राम जैसा अनुकरणीय चरित्र' तथा मानसीय आदर्श–पुञ्ज के साथ–साथ 'रामलीला' जैसा सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम भी प्रदान किया। अपने ही मित्र–शिष्य मेधा पण्डित लेते हुए, एकदम नये,

लोकानुकूल नाट्यरूप–रामलीला–का सूत्रपात और प्रचार–प्रसार किया। निश्चतः, इस सबके कुछ महत् और युगीन आवश्यकताओं के पूरक, लोकानुकूल उद्देश्य थे यथा धार्मिक सामाजिक क्रान्ति करना, दीर्घकाल से उपेक्षित चली आ रही प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनप्रष्ठिता करके जन–जन को उसकी महत्ता से परिचित कराना, सनातन रूप से सर्वकालिक, सर्वोपयोगी भारतीय उच्चादर्शों का प्रचार–प्रसार करना, अतीतकाल के किन्तु उस समय तक प्रायः उपेक्षित या अप्राकृत बन चुके महत् चरित्रों से नयी पीढ़ी को परिचित कराना, निरावलम्बी बन चुके लोक–मानस को अवलम्बन प्रदान करना तथा शोषित–निराश–आत्मविश्वासरहित और नाना प्रकार की मानसिक श्रृंखलाओं में जकड़े हुए भारतीय जन–समाज में जन–जागृति करना आदि। निःसन्देह इस सब की पूर्ति की आवश्यकता और महत्त्व की प्रतिष्ठा उस समय और भी बढ़ जाती है जब कि हम तुलसी के युग की परिस्थितियों को देखते है जिसमें समस्त भारतीय जनता देशी–विदेशी सभी–अत्याचारग्रस्त और शोषित मात्र तो थी ही, प्रेरणादायक नेता के अभाव में निष्क्रिय और निःसहाय भी थी। उधर, सशक्त वर्ग कर्त्तव्यच्युत था तो इधर जनसामान्य बाधायुक्त। तुलसी के राम और उनका जीवन–वृत्त इसी का निदान था–मानवमात्र के और समस्त मानवीय जीवन के प्रायः सभी पक्षों तक व्याप्त जीवनदर्शों, शाश्वत् मानव–मूल्यों तथा अनुकरणीय, उपयोगी तत्त्वों से परिपूर्ण। यह सर्वज्ञात है कि तुलसी के राम और उनका समस्त जीवन–वृत्त स्वयं तुलसी–मानस की देन भी है, केवल परम्परा का अनुकरण नहीं। रामलीला इसी को हर एक के सम्मुख प्रकट करती थी, करती है। मानव धर्म का सद्ज्ञान, उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा, रामादि महापुरूषों के प्रति श्रद्धा–विश्वास की जागृति, सच्ची और वास्तविक धर्म, आस्था की सन्तुष्टि, अखिल आर्य (श्रेष्ठ) संस्कृति की

उच्चाशयी विचारणाधारणाओं की प्रस्तुति और यह सब भी मनोरंजन, रसमय रूप में। निश्चतः, रामलीला की ये महत् देन थीं, है और रहेंगी।

यह सच है कि, समय के थपेड़ों ने रामलीला जैसे श्रेष्ठ माध्यम को भी, कुछ अंशों में ,गँदला किया है। पारसी थियेटर से लेकर आज के फिल्मी दुष्प्रभावों तक इस गन्दगी को देखा जा सकता है। रावण के दस मुख, कुम्भकरण की अविश्वसनीय रूपाकृति और हनुमान् का वानर–रूपादि जैसे अप्राकृत तत्त्वों ने आधुनिकता भरे बुद्धिवादी को इससे दूर किया है तो भव्य–से–भव्यतम बाह्य सज्जनादि ने प्रदर्शन वृत्ति को प्रमुखता देकर भी 'आत्मा' का हनन किया है। निःसन्देह, ये कमियाँ आयोजकों की हैं या फिर जन–कुरूचि की, कम–से–कम स्वयं रामलीला की नहीं है। आज, आवश्यकता है इन कमियों को दूर करने की, रामलीला की सच्ची, पूरी उपयोगिता को समझने की तथा सबसे अधिक उससे 'शिक्षाएँ' लेने, 'आदर्शों' को अपनाने और अधिकाधिक अनुकरण करते हुए 'व्यवहार' में अपनाने, मानने तथा स्वीकार करने की। निश्चतः, राम और उनकी लीला न तो केवल कल्पनाजन्य काव्य है, न केवल हिन्दुओं की पुराणसम्मत पात्र–कथा है। राम है–अनुकरणीय आदर्श–पुञ्ज और उनकी लीला है– आजीवन करने योग्य धर्माचरण का परिस्थितिगत समुच्चय जो एकदम भेदभावरहित, मानवोपयोगी और समाज–कल्याणकारी होता है–हर देश–काल में, हर किसी के लिए उपयोगी। इस सत्य–सूत्र को मानकर ही हर रामलीला की उपयोगिता और महत्त्व को समझ पायेंगे।

प्रयाग की रामलीला और रामदल

भारत की प्रसिद्ध रामलीलाओं की चर्चा हो और उसमें प्रयाग की प्रसिद्ध रामलीलाओं और उनके द्वारा निकाले गए रामदल व रात में निकाली गयी श्रृंगार चौकियों का वर्णन शामिल न हो ता वह चर्चा अधूरी ही नहीं 'श्रीहीन' भी मानी जायेगी इसके कारण है–

प्रयाग जिसे 'तीर्थराज' कहा जाता है– अर्थात् तीर्थों का राजा और जिस तीर्थराज की सात रानियाँ हैं– सातों पुरी–अयोध्यापुरी, काशीपुरी, मथुरापुरी, मायापुरी, काँचीपुरी, द्वारावतीपुरी (द्वारिकापुरी) तथा अवन्तिकापुरी। इनमें काशीपुरी, तीर्थराज की पटरानी हैं, इसीलिए उन्हे राजा द्वारा अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष देने का कार्य सौंपा गया हैं। अतः जहाँ पटरानी हों वहाँ महाराज का होना भी आवश्यक ही नहीं धर्मसंगत भी है।

प्रयाग जो मध्य युग में भक्ति आन्दोलन के रामभक्ति धारा के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द की जन्मस्थली है। जिनके परमप्रिय शिष्य गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'मानस' लिख 'रामलीला' का प्रवर्तन ही नहीं किया वरन् 'चित्रकूट अयोध्या और काशी की राम लीलाओं का प्रारम्भ भी किया। फिर अपने गुरू स्वामी रामानन्द की जन्मभूमि और अपने आराध्य श्रीराम की लीला भूमि में रामलीला का प्रभाव व प्रारम्भ न हो, कैसे सम्भव था।

प्रयाग की रामलीला परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी अयोध्या काशी की रामलीला परम्परा। जिस प्रकार 'रामचरित मानस' की रचना से पहले तुलसी शिष्य मेघाभगत वाल्मीकि रामायिणी (रामायण) आधारित 'रामलीला' या 'राम नाट्य' काशी में करते थे, वैसे ही प्रयाग में भी वाल्मीकि रामायण आधारित रामलीला लोक नाट्य शैली में होती रही होगी। अकबर के समभाव विचार धारा के कारण भारत में भक्ति आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव प्रयाग पर भी पड़ा। अकबर ने जब प्रयाग में किले का निर्माण करवाया तो अपनी पत्नी रानी जोधाबाई के लिए पूजा स्थल भी बनवाया। स्वामी रामानन्द ने मथुरा की रासलीला के आधार पर, रामभक्ति के प्रचार–प्रसार हेतु रामलीला कराने का निर्णय लिया और पहले इसे उस स्थान पर प्रारम्भ किया जिसे आज अरैल कहते हैं। अरैल को उस समय 'अलर्कपुरी' नाम से जाना जाता था। उसके बाद (इसे संक्षिप्त रूप में सलोरी महादेव के विशाल मैदान में आरम्भ किया गया।) निश्चय ही यह बाल्मीकि रामायण पर आधारित रही होगी, क्योंकि उसके समय तक 'मानस' (की रचना नहीं हुई थी, और दूसरा प्रमाण यह भी है कि 'तबका अकबरी) के अनुसार सन् 1575 में अकबर सपत्नीक इस रामलीला को देखने आया था और 'रामवन गमन' तथा दशरथ की मृत्यु की लीला देख अभिभूत हो गया और आदेश दिया कि श्री बाल्मीकि रामायण का फारसी में अनुवाद कराया जाय इस पुस्तक के लेखक ने ये भी लिखा है कि अकबर ने इस भूमि को शाही फरमान जारी करके सदैव के लिए गुसाई भगवान दास को रामलीलाल करने के लिए दे दिया था।

ब्रिटिश साम्राज्य में जब कानपुर से किले तक रेललाइन डाली गयी तो वहाँ से हटाकर सूरज कुंड और जब सुरज कुंउ में बिजली घर लगाने का निर्णय हुआ तो वहाँ से हटाकर वर्तमान लीलास्थल को खरीद कर उसके चारों और दीवार उठाकर रामबाग का नाम दे दिया गया और रामलीला को पत्थरचट्टी रामलीला नाम मिला। इस राम लीला को पत्थरचट्टी नाम देने के पीछे भी दो अलग मत हैं। एक मत के अनुसार यह भूमि जब अकबर ने गुसाई भगवानदास को दी थी तो इस मैंदान पर शंख पुष्पी नामक घास अत्यधिक मात्रा में उगती थी, और शंखपुष्पी को 'पथरचट्टी' भी कहते हैं अतः यहाँ की जाने वाली रामलीला को इसी नाम से जोड़कर पुकारा जाने लगा। दूसरा मत यह है कि आज जहाँ रामबाग है वहाँ उस समय पत्थर का बाजार होता था अतः उसे पथरचट्टी भी कहते थे, इसी वजह से यहाँ होने वाली रामलीला का नाम 'पथरचट्टी रामलीला' पड़ा।

दशहरे का वर्तमान स्वरूप

प्रयाग के दशहरे का वर्तमान स्वरूप–रामलीला, रामदल या रामबारात तथा रात्रि की श्रृंगार चौकियों का प्रारम्भ 1828 से ही माना जाता है। उस समय प्रमुख रूप से चार रामलीलायें होती थी।

1. महंत बाबा हाथीराम की रामलीला जिसे बाद में पजावा रामलीला नाम से पुकारा जाने लगा।
2. बेनी प्रसाद की रामलीला जिसे पत्थरचट्टी रामलीला कहते हैं।
3. कटरा राम लीला जिसे पहेल चैथम लाइंस छावनी के सैनिक करते थे।
4. दारागंज रामलीला जिसे पहले किले के फौजी परेड़ मैदान में करते थे बाद में दारागंज के पण्डों मल्लहों और कोठी के अग्रवाल परिवार ने अपने हाथ में ले लिया।

कालान्तर में 1937 के आस–पास नगर में राम दलों और लीलाओं के वृद्धि हुयी और सिविल लाइंस की राम लीला और दल का निकलना प्रारम्भ हुआ। अब बैरहना, अल्लापुर और मम्फोर्डगंज, की कमेटियाँ भी अपने दल और झांकियाँ निकालने लगी है। नगर के निरन्तर विस्तार से मीरापुर, करेली, उत्तरी रेलवे तथा बाघम्बरी क्षेत्र में भी रामलीलाएँ होने लगी है।

प्रयाग में दशहरे का प्रारम्भ आश्विन की एकादशी को श्री राम मन्दिर में 'मुकुट पूजन' तथा आश्विन की अमावस्या को 'कर्ण घोड़ा' के जुलूस निकलने के साथ ही हो जाता है। सारे शहर में ही नहीं वरन् समस्त जनपद में रामलीला की तैयारियाँ

प्रारम्भ हो जाती है। शहर में 'रामलीलाओं' और 'दुर्गापूजा' के पंडाल आकार लेना शुरू कर देते है और दुर्गा की मूर्तियों की सजावट शुरू हो जाती है। 'कर्ण घोड़ा' का जुलूस गाजे बाजे, साज–श्रृंगार और श्री राम और शिव की जय जयकार के साथ प्रयाग के चौक क्षेत्र की मुख्य सड़कों से गुजरता है। सड़कों के दोनो ओर बूढे, बच्चे जवान और स्त्रियों की अपार भीड़ जमा रहती है। जो दल की घटों प्रतीक्षा करती है। दल के आगे गाड़ियों पर सजी ध्वजा पताकाएँ होती है। फिर गणपति जी की रजत प्रतिमा की भव्य झाँसी होती है। इसके साथ कमेटी के पदाधिकारी, स्वयं सेवी संगठनों के कार्यकर्ता पैदल और घोड़ों पर सवार पुलिस के सिपाही और जीप पर सवार अधिकारी बैण्ड बाजे नगाड़े, तुरही, शहनाई और तेज ध्वनि विस्तारक यंत्रों पर बजते भजनों के बीच घूमता है। कर्णघोड़ा का दल और आह्वान करता है जन जन को श्रीराम लीला और दशहरे पर्व के लिए।

और फिर शुरू हो जाती है, अपनी–अपनी राम लीलायें अपनी–अपनी निश्चित भूमि पर। और उसी के रामदल, राम बरातें और रात्रि श्रृंगार चौकियाँ जो प्रयाग के दशहरे की विशेषता है।

ऊपर जिन प्रमुख 'रामलीलाओं' का नाम लिया गया है वे सभी अपने–अपने क्षेत्र में निश्चित स्थान पर रामलीलायें करती हैं और अपने स्थान, स्थिति और सामर्थ्य के अनुसार दल भी निकालती है। और प्रकाश सज्जा भी करती है। परन्तु जिन रामदलों, प्रकाश सज्जा और रात्रि श्रृंगार चौकियों के कारण प्रयाग का दशहरा भारत में नही विदेशों में भी प्रसिद्ध हैं वे प्रमुख रामलीलायें है– पत्थरचट्टी रामलीला, पजावा रामलीला, कटरा रामलीला, दारागंज और सिविल लाइंस रामलीला। ये सभी

रामलीला कमेटियाँ अपने दल षष्ठी से लेकर दशमी तक अपनी प्राचीनता के आधार पर नम्बर से निश्चित दिन निकालते है। पष्ठी को सिविल लाइंस का रामदल, सप्तमी को दारागंज का दल जिसे हनुमान दल कहते हैं, कटरा का रामदल अष्टमी को, पजावा का रामदल नवमी को और पत्थरचट्टी का रामदल दसमी को, दशहरे के दिन निकालता है।

कटरा और दारागंज मुख्य शहर से दूर और जनसंख्या की दृष्टि से कम होने के कारण यहाँ की रामलीला और रामदलों में वह भीड़ रोशनी और झाँकियों में सौदर्य नहीं दिखाई देता जो शहर के दो प्रमुख रामदलों में देखने को मिलता हैं। यहाँ के रामदल का रास्ता सीधा सा एक ही जिससे होकर दलनिकलता है। पहले राम दल दिन में ही निकलता था अतः रोशनी करने की कोई समस्या नहीं थी। परन्तु शहर की रामलीलाओं की होड़ में इन्होने भी प्रकाश व्यवस्था के लिए धनब बहाने में कसर नहीं छोड़ी है। अब लगभग पन्द्रह दिनों तक सारा शहर, प्रकाश में नहाया रहता है।

यहाँ की रामलीलाओं और रामलीला कमेटियों में प्रमुख हैं, वर्तमान शहर के दक्षिण क्षेत्र की दो रामलीला कमेटियाँ, जो प्रयाग की सबसे पुरानी रामलीलायें हैं, जिनमें प्रारम्भ से ही स्पर्धा रही है। इस स्पर्धा का प्रभाव दोनों पर ही रचनात्मक रहा है और रामलीलाओं के प्रदर्शन तथा रामदलों व रात्रि श्रृंगार चौकियों के रूप, सौंदर्य, प्रकाश व्यवस्था और सृजनात्मक श्रेष्ठता में अतुलनीय विकास हुआ है, जिसने निश्चय ही प्रयाग दशहरे को विश्व मानचित्र पर लाकर खड़ा कर दिया है वे दो लीला कमेटियाँ है–

1. महंत बाबा हाथीराम पजावा रामलीला कमेटी।

2. पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी।

मैं यहाँ इन दोनो प्राचीन रामलीला कमेटियों का संक्षिप्त परिचय देने का लोभ सवरण नहीं कर पा रहा हूँ क्योंकि तभी पाठकों को इनका स्वरूप उसकी गम्भीरता उनका वैशिष्ट, वर्तमान ख्याति तक पहुँ चने में सफलता का कारण ज्ञात हो पायेगा।

'पजावा रामलीला' नाम से जानी जाने वाली रामलीला को पहले बाबा हाथी राम की रामलीला नाम से जाना जाता था। क्योंकि इस राम लीला को बाबा हाथी राम ने 'शाहगंज' मुहल्ले के एक लेखक सामग्री बेचने वाले उत्साही और कर्मठ व्यक्ति 'श्री कान्ता पुरी' इसे लिया था कान्ता पुरी जी पूरी निष्ठा उत्साह और कर्मठता के बाद भी लीला को निभा नहीं पा रहे थे। बाबा हाथीराम ने इस रामलीला को अपने हाथ में लिया। भक्तों संतों और शहर के सम्पन्न लोगों, जो बाबा का अत्यधिक सम्मान करते थे, के सहयोग से इसका बहुत विकास किया। वे शाहगंज की सकरी गली में होने वाली रामलीला का स्थान परिवर्तित कर, सती अनुसुइया मंदिर के आगे बने पजावा मैदान में ले गए। परन्तु इस परिवर्तन ने एक समस्या खड़ी कर दी, शाहगंज के मंदिर में स्वरूपों का श्रृंगार सम्पन्न होने के बाद पाजावा मैदान तक किस प्रकार लाया जे जाया जाय। बाबा जी हृष्ठ पुष्ठ शरीर के धनी थे। वे नित्य राम लक्ष्मण को कन्धे पर और सीता जी को गोद में लेकर शाहगंज से पाजावा मैदान तक जाते और लीला कराकर, वापस लाते। लौटते समय शेरशाह सूरी मार्ग अर्थात् जी0टी0 सड़क पर जनता को स्वरूपों का दर्शन कराते थे। लौटते समय देर सबेर होने से लोगों को कभी कभी अंधेरे में दर्शनों के लिए मजबूर होना पड़ता। धीरे–धीरे लोगों ने वहाँ

रोशनी की व्यवस्था कर दी। धर्म के प्रति ऐसी आस्था और ईश्वर के प्रति भक्ति और समर्पण की ऐसी मिसाल विरल ही मिलेगी। संसार का कोई और कैसा भी व्यक्ति क्यों न हो ऐसे व्यक्तित्व के सम्मुख नत मस्तक हुए बिना नहीं रह सकता। उस समय के नगर के सबसे बड़े रई लाला मनोहरदास का परिवार भी उनकी इस साधना से प्रभावित हुए बिना नही रह सका। वे भी स्वरूपों के साथ लौटतें समय बाबा का सत्कार करने लगे। लाला मनोहरदास जी की कोठी जी0टी0 रोड़ और पाजावा मैदान को जाने वाली सड़क के मिलन स्थल के करीब पड़ती है, अतः दिनों दिन सत्कार के माध्यम से निकटता में वृद्धि हुई और लाला जी के परिवार ने भी रामलीला में सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया।

बबा हाथीराम के पश्चात् उनके शिष्य बाबा नरसिंह दास ने रामलीला का कार्यभार सम्हाला। 1883 ई0 में इन्होने 11 (ग्यारह) दिन जुलूस निकालने के लिए अपनपे हस्ताक्षर से सूचना की अर्जी दी थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तब तक कोई कमेटी गठित नहीं हुयी थी। कालान्तर में जैसे–जैसे महादेव प्रसाद और मनोहर दास के परिवार के सदस्यों की सक्रियता बढ़ी, आस–पास के क्षेत्र के सम्भ्रान्त परिवार और धनी व्यक्तियों ने भी सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया जिससे इस पजावा रामलीला की गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि और वैविध्य आता गया। यद्यपि बाबा के वंशज आज भी इसका कार्यभार संभाले हैं परन्तु रामलीला महंब बाबा हाथी राम पजावा रामलीला कमेटी के नाम से रजिस्टर्ड है।

अब नित्य ही लीला के लिए राम की सवारी लाला मनोहरदास की कोठी से उठकर रानी मंडी की गली से पाजावा मैदान तक जाती है और लीला समाप्त पर

वापस कोठी आती है। यह क्रम अष्टमी तक चलता है नवमी को पजावा का दल खुल्दाबाद स्थित पथर वाले शिववालय से उठता है। पहले यह शिववालय से उठकर सीधा रानीमंडी में प्रवेश कर ककराहाघाट पर मेघनाथ के वध के लिए जाता था और दूसरे दिन रावण वध के लिए। दूसरे दिन पत्थरचट्टी का राम दल भी बाई के बाग से उठकर मुठ्ठीगंज मोड़ से होकर सीधा कोतवाली आकर रानीमंडी में घुसता था और दोनो दलों के राम लक्ष्मण ककरहा घाट पर रावण वध कर लौटते थे। दोनो दलों के एक साथ रानीमंडी से गुजरने के कारण लोगों की भीड़ अत्यधिक होने लगी और 1954 के कुंभ की घटना के कारण इसके रास्ते को बदल दिया गया। अब परम्परागत मार्ग के अतिरिक्त दोनो रामदल जास्टनगंज, विवेकानंद मार्ग तथा श्रीचन्द्र बास मार्ग पर घुमने लगे। मार्ग के बढ़ा देने से निश्चय ही दुर्घटना की सम्भावना समाप्त हो गयी और साथ ही प्रकाशकी चादर भी लम्बी हो गयी।

प्रयाग की दूसरी और प्राचीन रामलीला कमेटी है– पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी। इसकी प्राचीनता के प्रमाण तो दिए जा चुके है। कमौरा महादेव से उठकर सूरजकुण्ड होती हुयी जब रामब में स्थापित हुई तो इसका पुनर्जीवित किया कड़ा निवासी श्री बेनी प्रसाद जी ने, जो कायस्थ परिवार से थे और वकालत करते थे। राम और रामलीला में उनकी अगाध श्रद्धा और भक्ति थी। दशहरे के दिन भगवान राम लक्ष्मण की सवारी के साथ रामलीला का दल मुठ्ठीगंज चौराहे से भारती भवन होकर चौक पहुँचता था और बाबा हाथीराम के दल के पीछे ककरहा घाट जाता था आज इसका मार्ग बदल चुका है और ऊपर बताया भी गया है कि श्री बेनी प्रसाद के बाद रामलीला कराने का भार श्री दत्तीलाल कपूर जो हाईकोर्ट में एडवोकेट थे, ने

उठाया। वे प्राचीन महाजनी टोला के हाटकेश्वर महादेव मंदिर के बगल में रहते थे। इन्होने ही वर्तमान रामबाग की जमीन 'लीला' के लिए ली और और ओर दीवार बनवाई। पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी का गठन वर्ष 1837 में विधिवत हुआ, जिसमें नगर के गणमान्य व्यक्ति कमेटी के पदाधिकारी हुए जिन्होनें इसे काफी आगे बढ़ाया। पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी से जुड़े लोगो की सूची देखने से ऐसा लगता है कि इससे जुड़े या जोड़े गए लोग केवलआस्था श्रद्धा और भक्ति के भाव के कारण जुड़े थ किसी लोभ के लिए नही। इसीलिए सूची में सभी जाति और वर्गों के लोग थे। यदि इसमें एक ओर बाबू दत्ती लाल कपूर थे तो जड़िया समाज के श्री नत्थूलाल, बलदेव प्रसाद और रणेन्द्र बसु थे तो गाजी कुम्हार, मुंशी हनुमान प्रसाद, साधोराम, बंशीधर भार्गव, महादेव सर्राफ, लोहिया पाण्डे, पण्डित राजदेव चतुर्वेदी व नर्वदेश्वर उपाध्याय भी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि संत और भक्त स्वभाव के कड़ा निवासी बाबू बेनीप्रसाद जी अपने साथ कड़ा की संत परम्परा का आशीर्वाद लाए थे जिसके प्रभाव से सदैव संत स्वभावी लोग इससे जुड़ इसका विकास और विस्तार करते रहे। तभी तो इस कमेटी के उन्नायको में डॉ0 सरसुन्दर लाल, पं0 अयोध्यानाथ

पं0 मोतीलाल नेहरू, पं0 मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन जैसी महान विभूति थी।

कहते है ईश्वर को जिस भाव से याद किया जाता है वह फल भी वैसा ही देता है आज दक्षिणी क्षेत्र की इन दोनो रामलीला कमेटियों की स्थिति को देखकर उपरोक्त कथन की सत्यता को परखा जा सकता है। पजावा रामलीला कमेटी द्वारा नित्य रामलीला भी होती है, दल भी निकलता है और रात्रि श्रृंगार चौकियाँ भी

निकलती है, परन्तु पजावा रामलीला मैदान में होने वाली भीड़ और भीड़ के स्तर को देखकर लीला के स्तर का अनुमान किया जा सकता है। देखने से यह स्पष्ट झलकता है कि केवल परम्परा निर्वाह के उद्देश्य से लीला की जा रही है। भक्ति, सौन्दर्य और आस्था का लेशमात्र प्रभाव भी यहाँ नही दिखाई देता और न ही स्वरूपों, विभिन्न लीलाओं तथा अन्य पात्रों का उपदेशात्मक प्रभाव दर्शकों पर दिखाई देता है। निराशा तो यह देख कर होती है कि लीला मैदान के चारों ओर के माहौल को देखकर यह भी एकसास नहीं होता कि आस–पास कही रामलीला हो रही है, यदि मुख्यद्वार के चारो ओर चूने का छिड़काव न होता, बिजली के लट्टुओं की एक लतर लीला मैंदान के चारो ओर न लगी होती, चार पाँच फ्लड लाइट न लगी होती और ध्वनि विस्तारक यंत्र द्वारा भजन या राधेश्याम की रामायण का रिकार्ड न बजता होता। और कुछ ऐसा ही स्तर राम दल की चौकियों को देख कर लगता है। परन्तु फिर भी अलग व्यक्तियों और संगठनों द्वारा चौकियाँ बनाई जाती है, तो उनका विषय और सौन्दर्य अलग–अलग होता है जिनमें कुछ अत्यन्त सुन्दर भी होती है।

पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी द्वारा निरन्तर रामकथा और उनकी लीला के स्वरूप और स्तर में विकास देखने को मिल रहा है। लीला मैदान को ही देखकर यह अनुमान स्वतः लगाया जा सकता है कि इसके पदाधिकारी, कार्यकर्ता, व्यवस्थापकों की सोच, उद्देश्य और भावना क्या है। उनके रामदल और श्रृंगार चौकियाँ सदैव से उनके निर्माताओ के अथक परिश्रम, धन और श्रद्धा भाव को दर्शाते आ रहे हैं। उच्चकोटि की कारीगरी सदैव धन से सम्भव नहीं।

प्रतिस्पर्द्धी सी दिखने वाली यह दोनो कमेटियो के स्वरूपों के विमान पूजन के पश्चात् रानमण्डी की बच्चा जी की कोठी एवं बहादुरगंज स्थित बंशीधर की कोठी से जीटी रोड़ पर स्थित चौक क्षेत्र में आते हैं और रोशनी मे नहाए मार्गों से गुजरते हुए एक रामबाग स्थित लीला भूमि में रावध वध सम्पन्न करता है, और दूसरा पजावा रामलीला मैदान से होकर ककरहा घाट पर रावण वध की लीला सम्पन्न कर वापस आ जाता है।

सन् 1954 की कुंभ घटना के बाद जब दल का रास्ता बदला तो चौड़ी सड़के पा चौकियों का स्परूप भी बदला दलों के कार्यकर्ताओ और कलाकारों और कारीगरो की सोच ने उड़ान भरना शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि झाँकियों का स्वरूप बड़ा और चौड़ा होने लगा। 'लाग' और बिजली से मकड़ी के जाल की तरह भरी और सजी चौकियाँ इतनी बड़ी बनने लगी कि उनको रानी मण्डी और अतरसुईया तक लाना सम्भव हो गया। दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह खड़ी हो गयी कि इन बड़ी चौकियों के कारण दल के समय और दल के साथ चलने वली चौकियों में कोई तारतम्य हीं नहीं रह गया और आठ–आठ, दस–दस घंटे प्रतीक्षा करने के बाद भी निरी दर्शकों को चौकियों के दर्शन दुर्लभ होने लगे। चौकियों के संयोजक अपनी मस्ती और कलाकार व कारीगर अपनी कला को चरम सीमा तक पहुँचाने में यह भूल जाते कि लाखों–लाखों स्त्री, पुरूष, बूढे, बच्चे चौकी के दर्शन हेतु कराह रहे होंगे। बाध्य होकर कमेटी के सदस्य चौकियों को छोड़कर भगवान की सवारी वाले हाथियों को ही ककराहा घाट ले जाने लगे। बाद में पत्थरचट्टी राम दल ने चौकियों के साथ–साथ भगवान की सवारी को ककरहा घाट ले जाना बन्द कर दिया और रावध

वध रामबाग में ही सम्पन्न होने लगा। परन्तु दलों के किलने मे ंविलम्ब बरकरार रहा जिसका प्रभाव रात्रिकालीन श्रृंगार चौकियों पर भी पड़ा और सुबह सूर्य निकलने के बाद भी चौकी निकलती रही। बैरहाल चौकियों के तारतम्य और निकलने के समय में व्यवधान आने के बाद भी चौकियों की कलात्मकता और सौदर्य में जो अन्तर आया व अभूतपूर्व है। अब दोनों ही कमेटियों के संयोजकों ने इसमें सुधार लाने की कोशिश शुरू कर दी है।

पहले जब पत्थरचट्टी का रामदल मुठ्ठीगंज चौराहे से मुड़कर रानीमण्डी के लिए आता था तो केवल यही मार्ग, बल्को, रंग बिरंगी लतरो और ट्यूब राड़ो से सजता था, परन्तु जबसे मार्ग बढ़ाकर बदला गया, तब से कोतवाली से जानसेनगंज विवेकानन्द और श्रीश्चन्द्र वसु मार्ग भी प्रकाश से नहाने लगा। उधर मुठ्ठीगंज के व्यापारी वर्ग ने भी मुठ्ठीगंज क्षेत्र में विशाल रूप में मुख्य मार्गों को बिजली के बल्बों रंगबिरगी लतरो, रंगबिरगी ट्यूब राड़ो, चक्रो में चलने वाले, विभिन्न आकारों में बिजली के पशु पक्षियों के कट आउट लगाकर पूरे क्षेत्र को न्यूयार्क के समान इसे भारत का टाइम स्कैवर बना दिया है बहुत वर्षों से विभिन्न व्यापारिक प्रतिष्ठानों में रामदलों के इस मार्ग को भव्य द्वारों का निर्माण करा, आकर्षक और सुन्दर बनाने में सहयोग दिया है और उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें हिन्दु ही नहीं, मुस्लिम समुदाय ने भी सहयोग दिया है। भले ही इसमें सांकेतिक रूप में उनके प्रतिष्ठान का विज्ञापन होता है परन्तु द्वारों पर देवी देवताओं व रामलीला के प्रसंगो के दृश्यों का मनोहारी चित्र होते हैं। इस प्रकार लगभग आधा शहर बिजली की सजावट और द्वारों

की सुन्दरता से जगमगा उठता है और शाम से लेकर प्रातःकाल तक दर्शकों से भरा रहता है।

रात्रिकालीन श्रृंगार चौकियाँ– प्रयाग के दशहरे की विशेषता वैसे तो प्रकाश व्यवस्था और कलात्मक चौकियाँ है ही, परन्तु रात्रि कालीन श्रृंगार चौकियाँ एक ओर कलात्मकता के सुन्दर उदाहरण हैं तो वहीं हस्तकला के विभिन्न रूपों और सोने, चाँदी की दस्तकारी, कारीगरी के बेजोड़ नमूने होती है सारे भारत में कही इनका सानी नहीं मिलता।

इन चौकियों को प्रारम्भ करने का निर्णय भी दोनो ही कमेटियों के पदाधिकारियों ने मिलकर लिया था। दशहरे के प्रारम्भ के चौथे दिन से दोनो दलों की चौकियाँ निकलना प्रारम्भ हो जाती है। दोनो कमेटियों के विमान यात्रा पथ पर प्रकाश पसरा रहता है उस प्रकाशमान पथ पर गाजे, बाजे पताका ध्वज, तोरण, बिजली की बल्लरियाँ और मर्करी की तेज चमक से चौंधिाते वातावरण में कमेटी के प्रबन्धक, चौकियों के सज्जाकारों के साथ चौक के चौराहे पर पहुँचते है। दूसरी ओर से पजावा कमेटी का विमान पूरी सजधज के साथ पहुँचता है। दोनो ओर के विमानों को मिलाप होता है। लोग भरपूर राम, लक्ष्मण, सीता और अन्य स्वरूपों के दर्शन कर पुण्य लाभ कर घर को लौटते हैं। चौकियों पर नित्य राम, लक्ष्मण और सीता ही नहीं होती। विमान पर आरूढ़ स्वरूप नित्य हो रही लीला प्रसंगो के अनुरूप होते हैं। जैसे श्री राम इन चौकियों पर तभी तक तीनों भाइयों के साथ सजकर निकलते है ज बवह वनवास नहीं होता। वनवास के पश्चात् केवल सीता और लक्ष्मण के साथ निकलते है और सीताहरण के बाद तो केवल श्रीराम और लक्ष्मण ही पधारते है।

परन्तु दशवीं को पुनः सीता सहित दोनो पधारते है। इन नयनाभिराम चौकियों का श्रृंगार जहाँ रात रात भर सारे शहर को जगाए रखता है वहीं कला पारखियों को चौकियों के विभिन्न स्वरूप आकर और हस्तकला सोने नहीं देती और उनकी फैली–फैली आँखें, चौकी की सुन्दता को पूर्णता के साथ आँखों से भर लेना चाहती है। परन्तु मात्र दो आँखे इतनी तरह की इतनी सारी कारीगरी को समेटने मे समक्ष नहीं हो पाती।

सोचिए पहले भगवान का रूप सज्जा के साथ उनके मुकुट के भिन्न आकार, फिर उसकी सज्जा, उसमें बने विभिन्न आकार, आकारों का बहुमूल्य पत्थरों से अलंकरण और अलंकरण भी इतना महीन कि आँखे गड़ाकर भी पूरा देख पाना सम्भव नहीं। नाक की बुलाक, कानों के कुण्डल कर्णाभूरष, मालाएँ, मोतियों की दुलड़ी, त्रिलड़ी धनुष की बनावट, परम्परागत अंगरागों से लिपटी मुखाकृति, जिसके मध्य दमकता भव्य तिलक, मुख पर बने चमकते रेखांकन। रूप सज्जा के साथ उनके वस्त्रों का मिलान अर्थात् उनके पीले नीले लाल और हरे वस्त्रों के साथ मिलान करते रत्नों की दमक वाले आभूषण। विभिन्न रूपाकारों में बने सिंहासन, कभी सिंहों से सजा सिंहासन, कभी कमल आकार में कमलासन कभी हंस तो कभी मयूर आकृति में मयूरासन। इन पर बने अत्यन्त सुन्दर व अलंकत छत्र। इसमें बनी अलंकृतियों में होते कभी चमरधारी सेवक या नर्तकियाँ, तो कभी मयूर या अन्य पक्षी। जरी, पोत, पुष्प, सोने, चाँदी और नगीनों से बने ये छत्र कारीगरी के बेजोड़ हस्ताक्षर। कभी पोत की चौकी, कभी चाँदी की, कभी केले की तो कभी जरी की, कभी जड़ाऊ तो कभी फूलों से सजी चौकी। और इस पर भी चक्राकार घेरों में बने रंग बिरंगे, बल्बो के

इन्द्रधनुषो से घिरे, स्वरूप क्या इस सबको एक साथ दो आँखों में समेटा जा सकता है? लेकिन फिर भी दूर, दूर से आकर लोग इसे समेटने का भागीरथ प्रयत्न करते ही है और दर्शन की गंगा इन्हे स्वर्गिक आनन्द से भर देती है।

ये दोनो दल भरत मिलाप की लीला दशहरे के दूसरे दिन एकादशी को करते है जबकि राजगद्दी पजावा कमेटी वाले ंशरद पूर्णिमा को और पत्थरचट्टी कमेटी वाले भरत मिलाप एकादशी को और राजगद्दी रामनवमी को धूम–धाम से मनाते हैं।

वास्तव में प्रयाग के दशहरे की सबसे बड़ी विशेषता– हर नागरिककी उत्सव में भारीदारी। वह इसके लिए चन्दा तो देता ही है, साथ में मार्गों पर अच्छी रोशनी करने में योगदान भी करता है, रामदलों में अपनी शक्ति भर श्रेष्ठतम, कलापूर्ण चौकियाँ निकालने का प्रयत्न भी करता है। लगभग एक दर्जन लीला प्रदर्शनों में भाग लेता है। खास बात यह कि चाहे जिस सम्प्रदाय का कारीगर हो, साज, सामान, पर्दा, रामलीला से सम्बन्धित सामान और पोशाकें, व यांत्रिक उपकरण बनाने में जुट जाता है और दोनो रामलीला कमेटियों द्वारा निकाली जाने वाली श्रृंगार चौकियों और उन पर होने वाली बिजली की सजावट की दूसरी मिशाल तो पूरे भारत में कहीं नहीं मिलती। बिजली तथा प्रकाश व्यवस्था के स्तर को दर्शाने के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय के मेरे समय में रहे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ0 उदय नारायण तिवारी के शब्द शतप्रतिशत सही है क्योंकि न्यूयार्क के टाइम्स स्कवायर के प्रकाश के प्रत्यक्षदर्शी मैं रहा हूँ। उन्होने कहा है 'दशहरे के अवसर पर प्रयाग के चौक एवं मुठ्ठीगंज में जो बिजली का अद्भुत प्रकाश होता है वह न्यूयार्क के टाइम्स स्कवायर के दृश्य से किसी प्रकार न्यून नहीं है।

चित्रकूट लाट–भैरव रामलीलाएँ

मेरा उद्देश्य समस्त उत्तर भारत में होने वाली रामलीलाओं का ऐतिहासिक विवरण देना नहीं है, वरन् जिस उद्देश्य को ले 'बाबा तुलसी' ने मानस की रचनाा कर, रामलीलाओं का प्रवर्तन किया, उसे पूरा करने में आज की रामलीलायें कहाँ तक सजगता ईमानदारी और आस्था के साथ प्रयत्नरत है इसका मूल्यांकन करना है।

आज हम देखते है कि समस्त हिन्दी प्रदेश में मानस आधारित रामलीला को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त है। रामचरितमानस में समूचे हिन्दी प्रदेश में रामकथा और रामभक्ति को युग–युगान्तर तक प्रतिष्ठित कर दिया है। मानस की गहरी भक्ति भावना, अनूठी काव्य सम्पदा और नाटकीय क्षमता के कारण ही हिन्दी प्रदेश की रामलीला भारतीय 'पारंपरिक राम नाट्य' के सभी रूपों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और व्यापक हो सकी है और इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास युगों से भारतीय जनता के हृदय सम्राट बनें है और उनकी रामलीला धर्मभीरू मानस की मनरंजनी।

पुराण कहते है कि वाराणसी के दो खण्ड है–काशीखण्ड और केदारचखण्ड। चित्रकूट और लाट भैरव काशी खण्ड में पड़े है और अस्सी–भदैनी केदारखण्ड मे। बाबा तुलसीदास ने अपनी जीवनका पूर्वाद्ध अर्थात् 'मानस' रचना तक अयोध्या में व्यतीत किया और उत्तराद्ध काशी में। काशी में पहले वे हनुमान फाटक मुहल्ले के पास रहा करते थे, जो लाट भैरव क्षेत्र के पास हैं और लाट भैरव एक बड़ा सा मैदान, जिसमें और तीसरी तरफ है धनेश्वरमठ अर्थात् वैष्णव मठ जिससे रामलीला सम्बद्ध हैं

रामलीला का आयोजन रामलीला समिति द्वारा होता है। यानी पूरा मैदान 'धार्मिक अखाड़ा'। ऐसे विस्फोटक माहौल से भरे मैदान के पास रह कर भी तुलसी इससे दूर कैसे रह सकते थे। जबकि उनके प्रिय भक्त और शिष्य जिन्हे वे स्नेह से 'मेघाभगत' नाम से पुकारते थे, मठ की ओर से रामलीला करते हैं।

रामलीलाः अतीत के झरोखे में प्रयाग के रामदल

'रामो विग्रहवान धर्मो' अर्थात् श्रीराम धर्म के साक्षात विग्रह है। वाल्मीकि का यह कथन श्रीराम पर अक्षरशः लागू होता है। चाहे सुख हो या दुःख सबमें राम की लीला है। सम्भवतः इसीलिए रामकथा को हमारे देश में अनेक तरीकों से लिखा और व्यक्त किया गया। लोकगीतों में रामकथा युगों से गाई जाती है और इसकी अनेक शैलियाँ हैं। प्रमुख रूप से रामलीला–मंचन की तीन तथा श्रृंगार की एक अन्य शैली, जो मात्र इलाहाबाद में प्रदर्शित होती है, का वर्णन हमारे देश में मिलता है। रामलीला–मंचन की जो तीन शैलियाँ है, उनमें पहली उत्तर भारत की स्वरूप शैली है, जैसे बनारस के खुले तुलसी मंचों की रामलीला। दूसरी, पारसी शैली, जैसे अयोध्या, मथुरा–वृन्दावन की रामलीलाएँ और तीसरी पारम्परिक काव्य–सांगीतिक शैली, जैसे यक्षगान, अंकिया नाट, जात्रा आदि।

लोक में रामलीला का इतिहास कृष्णलीला की तरह बहुत प्राचीन नहीं है। 16वीं शताब्दी में काशी की रामलीला के मंचन का उपक्रम गोस्वामी तुलसीदास जी ने शुरू कराया। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी के पहले भी देश के विविध ग्रामीण अंचलो में रामकथा के प्रदर्शन होते थे, परन्तु वे स्थानीय महत्त्व के ही थे। काशी में मेघा भगत की रामलीला तुलसीदास जी द्वारा स्थापित रामलीला के पूर्ववर्ती थी। आज की वह लीला 'चित्रकूट की लीला' के नाम से होती है। इस लीला का भरत–मिलाप देखने लाखों लोग दूर–दूर से आते हैं। काशी की दूसरी भारत प्रसिद्ध लीला रामनगर की है, जिसके शुभारम्भ का श्रेय महाराज बनारस को है। इस रामलीला के सम्वाद

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने स्वयं लिखे थे। बिना परिवर्तन के आज भी इस लीला में वही सम्वाद यथावत बोले जाते हैं। कहा तो यह भी जाता है कि चित्रकूट एवं अयोध्या की रामलीला भी स्वयं तुलसीदास जी ने ही शुरू कराई थी। वर्तमान में वहाँ के साधु समाज द्वारा अत्यन्त निष्ठा और आस्था के साथ रामकथा को मंचित किया जाता है।

काशी, चित्रकूट व अयोध्या की रामलीला–मंचन से इतर प्रयाग में रामकथा का मंचन तो प्रधान रूप से नहीं होता, अपितु रामकथा के विविध प्रसंगो को श्रृंगार प्रधान विग्रहों की झाँकियों के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। सोने–चाँदी की जड़ाऊ श्रृंगारयुक्त झाँकियाँ जब नगर के मुख्य मार्गों से गुजरती हैं, तो बरबस रामकथा सजीव हो उठती है।

पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी के अनुसार, ''मेरे बचपन में प्रयाग की रामलीला इतनी प्रसिद्ध थी कि पजावा और पथरचट्टी के श्रृंगारयुक्त रामदलों को देखेने हेतु प्रयाग के समीपस्थ कानपुर आदि तक के नगरों के लोग यहाँ आते थे। तब बिजली नहीं थी। काँच के कन्दीलों की दोहरी–तिहरी पंक्तियों अतिरिक्त सौ–सौ, दो–दो सौ बत्तियों वाले काँच के अति सुन्दर व आकर्षक जमीन पर रखे झाड़ों से यह अनोखी रोशनी की जाती थी। काँच के भीतर जलती हुई मोमबत्तियाँ व के झोंको से जब धीर–धीरे हिलती थीं, तो वे एकदम जीवित प्रतीत होती थीं। इन बत्तियों का प्रकाश आज की चौंधिया देने वाली बिजली की रोशनी से अलग मंद एवं आँखों को सुख देने वाला लगता था 1899 के आसपास पजावा और पथरचट्टी के दलों में स्वस्थ

प्रतिस्पर्धा होती थी और अपने–अपने दलों को आकर्षक रूप देने हेतु दोनो दलों में होड़ रहती थीं।''

यद्यपि प्रयाग के श्रृंगार प्रधान व रत्नजड़ित रामदल की चौकियों को निकालने का इतिहास अलिखित है, फिर भी संस्मरणों एवं श्रुत परम्परा से चले आ रहे आस्थामय विश्वास के द्वारा पजावा व पथरचट्टी के रामदल सबसे पहले निकलने शुरू हुए। उसके बाद कटरा एवं दारागंज के रामदल निकलने लगे। यद्यपि बीच–बीच में ब्रिटिश सरकार द्वारा असहयोग एवं प्रतिबन्ध के कारण अवरोध पैदा किया जाता रहा, फिर भी जनास्था एवं आयोजकों की प्रतिबद्धता के कारण ये रामदल निकलते रहे।

प्जावा रामलीला कमेटी एवं उसके रामदलों के शुभारंभ का श्रेय एक निहंग रामानन्दी साधु बाबा हाथीराम को है, जिनकी प्रेरणा एवं आध्यात्मिक तेज से प्रभावित होकर नगर के मध्य कोतवाली के पीछे स्थित रानीमंडी के एक प्रतिष्ठित खत्री परिवार के मुखिया लाला मनोहर दास ने रामलीला के मंचन में सहयोग देना शुरू किया। शनैः–शनैः क्षेत्र के सभी लोगों ने समर्पण भाव से इसमें सहयोग देना शुरू किया और वह रामलीला गति पकड़ने लगी। पथरचट्टी के रामदलों की शुरूआत भी लगभग इसी समय से प्रारम्भ हुई। पहले इसे बेनीराम की रामलीला के नाम से जाना जाता था।

उस समय का प्रसिद्ध अंग्रेजी समाचार पत्र 'द लीडर' के 11 व 12 अक्टूबर 1910 के अंक में बाबा हाथीराम एवं बेनीराम के रामदलों का उल्लेख मिलता है। इन

दोनो रामलीला कमेटियों की ख्याति 19वीं शताब्दी में पूरे उत्तर भारत में फैल गई थी। लीला के पश्चात् भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण व सीता जी के स्वरूप राममंदिर के महंथ लाला मनोहर दास की कोठी पर विश्राम करते थे और रात में चौक में रोशनी के बीच विमान पर आरूढ़ होकर रूकते थे। पहले मशाल की रोशनी, फिर फानस के साथ मोमबत्ती की रोशनी होने लगी। इसी समय विशाल फाटक बने, पंचशाखे बने तथा घूमनेवाली रोशनी की चौकियाँ बनी और अंत में बिजली की व्यवस्था होने पर बिजली की रोशनी होने लगी। चौक क्षेत्र में नगर की दोनो रामलीला कमेटियों के स्वरूप भी विमान पर आकर रूकते थे। अतः दोनो ही कमेटियों में एक दूसरे से बढ़कर रोशनी करने एवं रामदल निकालने आदि की होड़ होने लगी। इस प्रतिस्पर्धा ने नगर के रामलीला–उत्सव को आगे बढ़ाने में बड़ा योगदान दिया।

प्रयाग की रामलीला कमेटियाँ एवं उनके द्वारा निकाले जाने वाले रामदलों के इतिहास पर अनुसन्धान एवं लेखन हरिमोहन दास टंडन ने किया है। उनके अनुसार, ''पाजावा व पत्थरचट्टी रामलीला की श्रृंगारयुक्त जड़ाऊ चौकियों के निर्माण में जासूसी भी होती थी एक बार पता चला कि पत्थरचट्टी रामलीला कमेटी की ओर से जडाऊ काम का श्र ृंगार आएगा। यह बात पता चलते ही पाजावा रामलीला कमेटी के लोगों ने पूरे शहर की दुकानों से जड़ाऊ ब्रोच क्रय कर लिया और एक दिन के अन्दर तार के ढाँचे पर मखमल चढ़ाकर उसे करीने में लगा दिया गया। रात में जब पत्थरचट्टी रामलीला कमेटीद की भगवान श्रीराम के स्वरूप की श्रृंगार चौकिया आई तो पाजावा के लगमग जड़ाऊ श्रृंगारों से सुशोभित राम–लक्ष्मण के स्वरूपों को

देखकर जनसमूह दंग रह गया। इस प्रकार की स्पर्धा ने रामदलों के स्वरूपों को नित नवीन ढंग से सजाने–सँवारने में बहुत बड़ा योगदान दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्तिकारियों के देश के प्रति समर्पण का प्रभाव भी प्रयाग के रामदलों पर पड़ा। पजावा, पत्थरचट्टी, कटरा व दारागंज के रामदलों में रानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी आदि से सम्बन्धित झाँकियाँ भी 1910 के पूर्व से ही निकलने लगी थी। तत्कालीन ब्रिटिश हुकुमत से साम्प्रदयियक वैमनस्व का सहारा लेकर दमनचक्र शु रू, किया, फलतः 1925 से 1932 तक प्रयाग कादशहरा बंद रहा।

1933 में हिन्दुओं और मुस्लिमों के संयुक्त प्रयास से प्रयाग की चारो रामलीला कमेटियों ने रामलीला प्रारम्भ की, लेकिन प्रशासन की हठधर्मिता के कारण चार दिन बाद ही बंद हो गई। 1936 से रामलीला का आयोजन समयबद्ध समझोते से पुनः प्रारम्भ हुआ।1936 में प्रयाग की रामलीला की श्रृंगारयुक्त चौकियों और रामदलों ने जिस समर्पण के साथ रामलीला का प्रदर्शन किया, वह आज भी अतीत के उस ऐतिहासिक क्षण का स्मरण कराता है, जिसमें मुस्लिम भाइयों ने नगर एवं समीपस्थ जनपदों से आने वाले श्रद्धालु दर्शकों के लिए पान, सुपाड़ी और सुगंधित इत्र का प्रबंध किया। लिखित विवरणों के अनुसार दारागंज का रामदल एक मील लम्बा था और उसमें तीन श्रृंगार चौकियाँ शामिल थीं। पाजावा के रामदल मे ंरत्नजड़ित श्रृंगारित चौकियों के अतिरिक्त 40 चौकियाँ, हाथी–घोड़े एवं बैण्ड बाजे शामिल थे। जुलूस में खान बहादुर अब्दुल कयूम खाँ और निजामुद्दीन ने पान–सुपाड़ी वितरित किया।

1939 में दारागंज के रामदल में 33 चौकियाँ थी। एक चौकी भारत माता की थी, जिसमें 25 बैल जुडे हुए थे। कटरा के रामदल में 34 चौकियाँ थी और कटरा से कर्नलगंज तक भव्यतम रोशनी की गई थी। दशहरे के दिन पाजावा व पत्थरचट्टी द्वारा निकाले जाने वाली चौकियों में सोने व चांदी की कामयुक्त श्रृंगार चौकियों मीलों लम्बे तथा रंग–बिरंगी रोशनी से युक्त मार्गों से जब निकलीं तो उनकी अनुपम छटा बरबस रामकथा के प्रसंगों को सजीव करती नजर आई। पाजावा रामलीला कमेटी का रंगीन मोरों से निर्मित नाचता हुआ सरों बहुत आकर्षक था। 1940 से प्रयाग के रामदलो–पाजावा, पत्थरचट्टी, कटरा, दारागंज, सिविल लाइन्स द्वारा नित नवीन ढंग से दशहरे की चौकियों, झाँकियों को निकालने का क्रम जोर–शोर से शुरू हुआ।

वस्तुतः प्रयाग के दशहरे के तीन अंग हैं– पहला 'लीला', दूसरा चौक में रात्रि श्रृंगार तथा तीसरा रामदलों की श्रेणियाँ। यहाँ के दशहरे में लीला का स्थान गौण है, केवल परम्परा का निर्वाह होता है। 1940 के बार से ही श्रृंगारयुक्त चौकियों पर यहाँ के रामदलों द्वारा विशेष ध्यान दिया जाने लगा। रंगीन पोतों की चौकी, श्रृंगारयुक्त घुमावदार चौकियाँ, रत्नजड़ित जड़ाऊदार चौकियाँ बनने लगीं।

प्रयाग के दशहरे की रात्रिकालीन श्रृंगार चौकियों, श्रृंगारयुक्त विमानों की डिजाइनें, अलंकरण एवं साज–सज्जा में भारतीय कलाओ, यथा–श्रीनाथ द्वारा शैली एव वैष्णव धर्म के रामानंदी सम्प्रदाय द्वारा मानित परम्परा के अनुसार राम, लक्ष्मण एवं सीता का श्रृंगार होता था। यह श्रृंगार–परम्परा इतनी स्वस्थ एवं स्पर्धात्मक

कला–प्रयास से युक्त रहती थी कि हृदय में भक्ति रस का संचार स्वयमेव होने लगता था।

रामकथा, रामलीला एवं रामदल की झाँकियों आत्महीनता एवं भटकाव की स्थिति से उबरने का सशक्त माध्यम रहीं है। रामजी की लीला ने मानव के भटकाव व प्रतिगामी चिन्तन को रोका है और समाज में सत्य, शील और समत्व को स्थापित करने में निर्णायक भूमिका अदा की है। रामकथा व उनकी लीला के प्रति अनुराग रखने वाले निश्चय ही इस सत्य को विस्मरित नहीं होने देंगे।

रामलीला का सांस्कृतिक महत्व

रामलीला भारतीय जनमानस की धार्मिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है। अनेक शताब्दियों से यह लोक–रंजन के साथ–साथ हमारे निजी संस्कारों को परिष्कृत, पोषित करती एवं उन्हें परितोष प्रदान करती आयी है। एतद्विषयक काव्य–रचनाओं की इतनी विपुल सामग्री कम–से–कम चार सौर वर्षों से निर्मित होती आयी है कि उसके कारण यह काव्य–चेतना का भी अधिष्ठान कही जा सकती है। देश के विशाल भू–भाग में आठ–दस दिनों से लेकर तीस–चालीस दिनों तक के इसके आयोजन प्रतिवर्ष एक ऐसी चेतना का निर्माण करते रहते हैकि उसक`कारण ये नाटकीय–प्रदर्शन–मात्र न होकर निश्चय ही सांस्कृतिक पर्व बन चुके है। श्रीराम का व्यक्तित्व भारतीय जन–मानस में इतने व्यापक एवं गम्भीर रूप से समाया हुआ है कि व्यक्ति के जनम से लेकर मृत्यु के बाद तक भी राम का नाम उत्सव–संस्कारों, सामाजिक पर्वों, अभिवादन आदि के सम्बोधनों और जीवन की शुभ–अशुभ घटनाओं या परिस्थितियों से अनायास ही जुड़ जाता है। राम–कथा भारत की सांस्कृतिक अन्तर्धारा की एक मर्म कथा एवं अन्तश्चेतना है। यहाँ व्यक्ति उनके जीवन के सन्–संवतों से भले ही अपरिचित हो, किन्तु राम जैसा पुत्र, भाई, मित्र, शासक, पति और स्वामी पाने की अभिलाषा–आकांक्षा उसमें विद्यमान हैं। अपने जीवन के सत्य पर उसे शड़का हो सकती है किन्तु राम के सत्य पर नहीं। यह उल्लेखनीय है कि युगानुरूप परिस्थितियों, मान्यताओं, अपेक्षा और आवश्यकताओं के अनुसार राम–कक्षा को भारतीय साहित्य में नये रूप–रंगों में सदा संवारा जाता रहा है। नये परिप्रेक्ष्य में

उसकी नयी व्याख्या भी की जाती रही है। उसकी इस युगान्तव्यापी विशेषता ने उत्तर भारत में रामलीला के नाटय–रूप की यह दीर्घकालीन परम्परा को विकसित किया।

आज भारत के कोने–कोने में रामलीला का आयोजन क्वास मास के आरम्भ होते ही होने लगता है, पर किसी समय रामलीला का महत्व आज की अपेक्षा अधिक था, क्योंकि तब आज में विकृतियाँ नहीं थीं। कहा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में स्वयं तुलसीदास ने रामलीला को आरम्भ किया था। उस समय रामचरितमानस के आधार पर ही रामलीला के संवाद प्रस्तुत किए जाते थे, पर तुलसीदास के बाद उनके प्रिय शिष्य मेघाभगत ने रामलीला का प्रवर्त्तन स्वयं किया और मानस की अर्द्धालियों का ही प्रश्रय लिया। कालान्तर में मानस के साथ ही केशव की रामचन्द्रिका के संवादों का भी समावेश किया जाने लगा। धीरे–धीरे रामलीला को अधिक सरस और चित्ताकर्षक बनाने की दृष्टि से विभिन्न कवियों द्वारा रजित ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया, दोहा, चौबोला और हरिगीतिका आदि छनद भी प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, अब तो लावनी, दादरा, गजल, ठुमरी के साथ ही राधेश्याम तर्ज एवं नौटंकी भी घुल मिल गई है। रामलीला की यह दुर्दशा देखकर ही किसी समय स्वयं भारतेन्दु जी ने चिन्ता प्रकट की थी और काशी नरेश के कहने पर उन्होने रामलीला विषयक कुछ अच्छे छन्दों की रचना की थी। रामलीला विषयक उनका एक छनद यहाँ पर उद्धत किया जा रहा है–

एई हैं गौतम नारि के तारक कौसिक के मख के रखवारे।

कौसलानन्दन नैन अनन्दन एई हैं प्रान जुड़ावन हारे।

रामलीला की शैलियाँ

सन् 1983 में मध्य प्रदेश की आदिवासी लोक कथा परिषद ने राष्ट्रीय रामलीला मेला आरम्भ किया। सप्त–दिवसीय मेले में देश के विभिन्न क्षेत्रों की रामलीला मंडलियों ने विभिन्न प्रसंगों का मंचन किया। यहाँ भी एक क्रम रखा गया। प्रथम दिन रामजन्म, दूसरे दिन धनुष यज्ञ, तीसरे दिन राम–विवाह, चौथे दिन कोपभवन, वनगमन, पाँचवे दिन पंचवटी प्रसंग, छठें दिन अंगद–रावण संवाद और सातवें दिन राज्यभिषेक। प्रतिवर्ष थोड़ा परिवर्तन होता रहा। मेरे में प्रतिवर्ष एक रामकथा प्रदर्शनी भी आयोजित की जाती रही। रामकथा पर सेमिनार भी हुए। इस प्रकार यह सिलसिला बीस वर्षों तक चलता रहा। आरम्भ में दस वर्षों तक मेला भोपाल के रवीन्द्रालय में खुल मंच पर हुआ, बाद में मध्य प्रदेश के नगरों यथा इंदौर, सागर, रीवा, बिलासपुर, चित्रकूट आदि नगरों में भी हुआ। अन्त में यह ओरछा में हुआ। इस बीच कलाकारों ने विभिन्न क्षेत्रों की शैली में सम्पूर्ण रामकथा अंकित कर डाली। परिषद के पास पर्याप्त सामग्री जमा हो गयी और रामकथा चित्रों (लोक–शैलियों) का ओरछा में स्थायी संग्रहालय 'साकेत' राम से स्थापित हुआ। आलेखों और ग्रन्थों का एक संग्रह चित्रकूट में तैयार हो चुका है। अब आधा दर्जन रामकथा संग्रहालयों की स्थापना के लिये परिषद तत्पर है साथ ही 'रामलीला' मंचन के आदर्श रूप का प्रशिक्षण देने हेतु –'लीला का गुरूकुल' की स्थापना की तैयारी भी हो चुकी है। यह सब गौरवशाली कथा है पर एक विशेष उपलब्धि की ओर ध्यान आकर्षित करना जरूरी है। इस बीसेक वर्षों में देश की विभिन्न शैलियों में किये गये मंचन हमने देखे

और एक विचार हुआ कि क्यों न इन शैलियों पर एक ग्रन्थ तैयार किया जाय रूपरेखा भी बनी पर अपरिहार्य कारणों से ग्रन्थ तैयार न हो सका (शायद भविष्य में हो सके)। इस ग्रन्थ की रूपरेखा आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ इस आशा से कि भविष्य में कुछ उद्यमी, शोधकर्ता लेखक यह महत्वपूर्ण कार्य कर सकें। यहाँ विस्तार में जाना संभव नहीं और यह भी आवश्यक नहीं कि कोई एक राज्य ही इसे कार्यान्वित करें। सामूहिक और सहयोगी प्रयास से भी यह कार्य हो सकता है। एक सुनियोजित सेमिनार भी यह कार्य सम्पन्न कर सकता है जिसमें प्रत्येक शैली का जानकार विद्वान् अपना आलेख प्रस्तुत कर सकता है और आलेखों का संग्रह पुस्तक रूप ले सकता है। हम तो यह रूपरेखा मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

पुस्तक का आरम्भ 'लीला' की व्याख्या से होगा क्योकि 'लीला' नाटक मार्गीय। और लोक नाटय से अलग विधा है साथ ही 'लीला' के अनुष्ठानिक रूप है और लोक नाटय रूप भी है। लीला को अन्य प्रदर्शन–विधाओं का आधार भी मिला है।

इसके आगे रामलीला परम्परा, उसके विविध रूप और शैलियों का आकलन करना होगा। 'रामलीला का उद्भव और विस्तार' पर चर्चाकरनी होगी–तब हम भारत के विभिन्न प्रदेशों में रामलीला पर विचार कर सकेंगे। इसका क्रम अकारादिक्रम से रखे तो सम्भवतः इस प्रकार होगा।

1. असम तथा पूर्वोत्तर राज्य–

इनमें अंकियानाट, भाओना, जात्रा आते हैं। पूर्वोत्तर में आदिवासी रामकथाएँ और गायन हैं। रामकीर्तन है। दुर्गाबाड़ी की गीति रामायण है और ओजापाली है। रामलखन अलुन है। (कबों लोक परम्परा, मीजो, लालुगा, खासी खोतानी, बोडो खामती, मणीपुर और त्रिपुरा की समकथा है और यदि वह प्रदर्शित होती है तो कैसे?)

2. आंध्रप्रदेश –

यहाँ का भागवत मेला, कुचिपुडी, नृत्य, भामाकल्पम तथा पुतली नाटय–थोलुबोमा नाटय है। गोमवेदट्टा है। यहाँ की रंगीय चर्म–पुतलियाँ प्रसिद्ध हैं।

3. उड़ीसा –

यहाँ चैतन्य महाप्रभु के समय से रामलीला मंचन की परम्परा है। पुरी की दशपल्ला स्थिति श्री रघुनाथ जी लीला प्रचार समिति की अपनी विशिष्ट शैली है। इसके अलावा वे जात्रा, साहीजात्रा, और रावण छाया पुतली नाटक, छाऊ और ओडिसी नृत्य में रामकथा प्रस्तुत करते हैं।

4. उत्तर प्रदेश/उत्तराखण्ड–

उत्तर प्रदेश तो रामलीला का घर है। राम की नगरी अयोध्या में प्राचीन और नवीन शैली (पारसी नाटक) में रामलीला होती है वाराणसी में पचासों लीला मण्डलियाँ हैं पर मुख्यतः चित्रकूट लीला बहुत पुरानी (450 वर्ष से अधिक) है और झाँकी लीला करती है। अस्सी की रामलीला भी 400 वर्ष से अधिक पुरानी है तुलसी–मंच पर

लीला करती है। रामनगर की लीला का अपना स्वरूप है—उसे घटित लीला कह सकते हैं। यहाँ हर लीला की अपनी शैली है, अपने रंग हैं। लीला नगर है मथुरा—वृन्दावन। यहाँ सभी रास—मण्डलियां रामलीला भी करती हैं। यहाँ की लीला में नृत्य गायन का प्रभाव अधिक है।

मथुरा में महाविद्या के मैदान में पारम्परिक 18 दिन को लीला होती है इसकी अपनी विधा और मंच—विधान है। यहाँ महामाया मन्दिर में दर्शन करके राम युद्ध करने जाते है। मथुरा—वृन्दावन में बहुत सी रामलीला मंडलियाँ हैं जो देश में घूम—घूम कर लीला प्रदर्शित करती हैं। इनमें भी दो रूप है, एक वल्लभ सम्प्रदाय का जिसका प्रतिनिधित्व रामस्वरूप जी की मंडली करती है और दूसरा चैतन्य लीला जिसका प्रतिनिधित्व स्वामी हरगोविन्द जी की मंडली करती है। इन तीन प्रमुख नगरों के अतिरिक्त प्रयाग की रामलीला है जिसका रामदल प्रसिद्ध है। सभी मंडलियाँ श्रृंगार चौकियाँ सजाती है जिसमें भव्य झाँकिया होती है। इलाहाबाद में पाजावा, पत्थरचट्टी, कटरा, दारागंज और सिविल लाइन्स की रामलीलाएं होती हैं। आरम्भ कर्ण घोड़ा की सवारी से होता है। ग्यारह दिन की लीला होती है और दशहरे के दिन रामदल जुलूस निकलता है। लखनऊ में ऐशबाज की रामलीला प्रसिद्ध है औन सन् 1775 से नवाब आसफुद्दौला के जमाने से चल रही है। राजगद्दी पर 'रहस' का प्रदर्शन होता है। यह लीला ग्यारह दिन की है पर इसमें मानव—पाठ नहीं होता। कानपुर महानगर की परशुरामी प्रसिद्ध है और नौकटी शैली में रामलीला होती है। हाथरस की नौटींकी शैली में

रामलीला का मंचन प्रसिद्ध है। इसके अलावा कालपी, चित्रकूट कर्वी, खजुहा आदि की लीलाएं हैं। उत्तर प्रदेश की शैलियों में ख्याल और स्वांग का रूप भी मिलता है।

उत्तर प्रदेश से अलग हुए प्रान्त उत्तराखंड में पर्वतीय शैली में लीला होती है। इनका रूप कमायुनी और अल्मोड़ा की लीलाओं में देखा जा सकता है।

अगला प्रान्त है कश्मीर और यहाँ बसौली की रामलीला दिखती है। केरल प्रान्त अपने परम्परागत और भारत की सबसे पुरानी डाटय विधा कुडीअट्टम के रामकथा के तीन नाटक प्रस्तुत करता है। इसके अलावा उनकी कथकली है, रामनट्टम है और है पुती नाटक थोलपावाकुथु। कुडिअट्टम में भास के प्रतिमा और अभिषेक नाटय तथा शक्तिभद्र का 'आश्चर्य चूड़ामणि' है। कर्णाटक की अपनी विधा यक्षगान है। मैसूर में रामकथा नाटय रूप दोड़हट्टा तथा लघु नाटय रूप सोन्नट्टा में प्रगट होती है। मैसूर मैं तोगोलुगोमबेदटट्टा नामक पुतली नाटय भी होता है।

अगला पड़ाव है 'गुजरात' यहाँ की लोक–विधा है भवाई। इसके साथ ही माणभट्ट रामकथा गायन करते है। रामवेश भी प्रसिद्ध भवाई है। तमिलनाडू लेरूकुत्थु, भरतनाटयम नृत्य में रामकथा कहता है। तमिल प्रदेश की कब रामायण अत्यन्त काव्यमय और गेय है। दिल्ली देश की राजधानी हर वर्ष राष्ट्रीय पैमाने पर रामलीला का आयोजन करती है। यहाँ बहुत सी रामलीला मंडलियाँ हैं जिनकी अपनी शैली है। यहाँ मिश्र शैली, पर्वतीय और नागर शैली की रामलीलाएं होती हैं। दिल्ली 200 की वर्ष पुरानी रामलीला–रामलीला मैदान में खेली जाती है। यह ग्यारह दिन की लीला है और इसमें जुलसों का बड़ा महत्व है। दिल्ली रामलीला के खूब ऊँचे (करीब 300

फुट) रावण–कुंभकर्ण के पुतले बहुत प्रसिद्ध हैं और इनके दहन के साथ आतिशबाजी की जाती है। दिल्ली में करोल बाग के पास ही सी.एम. द्वारा संचालित रामलीला भी खूब प्रसिद्ध हो गयी थी और इसमें यंत्रों का प्रयोग खूब होता था; सम्प्रति यह लीला बन्द हो गयी है। अन्य लीलाएं भी प्रसिद्ध है और इन्होने अपनी शैलियाँ विकसित की हैं।

पुराने पंजाब में कवि अद्दहमाण 'संदेशरासक' में रामलीला की चर्चा करते है। आसादिवार में गुरूनानक सीताराजे राम की बात कहते हैं। पश्चिम बंगाल में कूल रूप है जात्रा का। रायबार के नाम से लीला होती है, रामायण पांचाली भी प्रसिद्ध है आधुनिक काल में रामायण पुतली नाटक (सुरेश दत्ता) बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। चंद्रावती रामायण पर आधारित रामगाथा और माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनाद वध का नाटक में उपयोग हुआ है। कृतिवास रामायण ने बंगाल की रामलीला को अलग ही रंग दिया है। बंगाल में सयूरभंज छाऊ भी होता है।

बिहार के लोग आमतौर पर स्वयं रामलीला नहीं करते। वे दूलह सरकार का परब मानते है। राम–विवाह की लीला करते हैं और कहते है–विवाह के बाद सीता–राम कोहबर में गाये तो निकले ही नहीं। ठीक भी है–कोई जमाई की लीला कैसे कर सकता है। हमारे रामलीला में बिहार की रामलीला मंडली ने भाग लिया और वे अनूठे ढंग से राम–विवाह लीला करते हैं। छाऊ भी यहाँ की एक विधा है।

मध्य प्रदेश बहुत बड़ा प्रदेश है। यहाँ रायपुर, सतना (खजुरीताल के बाबा जी बड़ी धूमधाम से पारसी–मंच पर लीला करते थे) मालवा का निमाड़ प्रदेश माच सैली

में लीला करता है। भोपाल में राष्ट्रीय रामलीला मेला के अलावा स्थानीय लीलाएं भी होती हैं। जबलपुर में बहुत पुराने जमाने से रामलीला होती रही है। इसकी शैली कुछ–कुछ वाराणसी लीला की है। चित्रकूट राम का धाम है। एक तो उत्तर प्रदेश का चित्रकूट है, पहले यहाँ रामलीला होती थी पर अब बन्द हो गयी (तुलसीदास चित्रकूट की लीला की चर्चा करते है), आजकल वहाँ रामलीला मेला होता है। चित्रकूट का दूसरा भाग मध्य प्रदेश में है, यहाँ प्रमोदवन में लीला होती रहती है। यहाँ रामलीला प्रेमी साधु–महात्मा बहुसंख्य है और अविचल भाव से लीला देखते हैं। चित्रकूट के माहत्मा तो रामलीला देखते (रामनगर की) काशी तक चले जाते हैं। इसके अलावा रीवा (रामनगर लीला के संस्थापकों में एक रीवा नरेश भी थे। पन्ना, सागर, दतिया, खण्डवा आदि में लीला होती है।) ओरछा तो राजा राम का नगर है, यहाँ राम–विवाह की बारात दर्शनीय होती है। उसमें लीला कम यथार्थ अधिक होता है। बस्तर को कुछ पुरातत्वविदों ने लंका बताया है अस्तु यह रामकथा के भूगोल में शामिल है।

आगे हम महाराष्ट्र आते हैं। यहाँ की लोक–विधा 'दशावतार' आधुनिक रामलीला की जननी कही जा सकती है और काशी में आज भी एक दिन दशावतार लीला खेली जाती है। हमें राष्ट्रीय रामलीला मेले में सांगली, सोंगी भजन मंडली। तमाशा में रामकथा देखने का अवसर नहीं मिला पर कहते है 'ललित' में रामकथा है। नागपुर और मुम्बई में भी रामलीला होती है।

राजस्थान में अलवर, कोटा, जुगुहरा पाटुंदा हादौती, उदयपुर की कठपुतली खेल में लीला, जयपुर, विसाऊ की लीला, भरतपुर और मेवाड़ की लीला के नाम

मिलते हैं। इनमें बिसाऊ की रामलीला में युद्ध प्रसंग पर विशेष बल होता है। अभिनय स्थल–दंगल कहलाता है। राम–बारात नहीं निकलती। लीला तीसरे प्रहर होती है (प्रकाश की आवश्यकता नहीं)। भरतपुर की लीला में नृत्य–संगीत नहीं होता, हरि–कीर्तन होता है, चौपाई में संवाद बोले जाते हैं। रावण मुखौटा नहीं लगाता। जयपुर में भोपा–भोपी गायन घूमर नृत्य होता है और स्त्रियाँ भी अनिभय करती है। मेवाड़ में रामधारी ख्याल शैली में लीला करते है। हाड़ौती (कोटा) की लीला में ग्राम रंग भरपूर मिलता है, भाषा भी हाड़ीती बोली जाती है। हरियाणा में ख्याल तथा सांग शैली की रामलीला देख सकते है। रोहतक में सांग और सिरसा में सुल्तानी लीला देख सकते हैं।

उत्तर प्रदेश की लोक–शैली में नत्थाराम गौड़ ने पच्चीस भाग में संगीत शैली में सम्पूर्ण रामायण लिख डाली जो खेली जाती है। नत्थाराम नौटंकी के सुख्यात लेखक हैं। इसी प्रकार मालवा में रामायण मार्च का प्रदर्शन होता है। यहाँ हम आदिवासी क्षेत्र की चर्चा नहीं कर रहे हैं क्योंकि वह अलग अध्याय हैं।

विदेश में भी रामलीला होती है जैसे इंडोनेशिया में जोगजाकार्ता के प्रम्बवन में पूर्णिमा के अवसर पर चार दिन की लीला है। बाली द्वीप की केत्वक शैली अनूठी है। बर्मा (म्यांमार) में चाट प्रे, प्याजजाट, योफथे प्वे (पुतली), कम्पूचिया में लकन खोन, लकन कबाख बोरन, नांगशेक (छाया नाटकों) इंडोनेशिया में वयांगकूलित (छाया), वायांग गोलेक (पुतली), वायांग ओरंण, बेरांग (ट्रासप्ले) बायांग तोपेग मुखौटा नृत्य नाटकों, लायांणवोग, अर्दना आदि, लाओत में मोहलमलुभांग, थाईलैंड में खोन और

नांगयेई, प्रकार के प्रदर्शन होते हैं। भारत में भी रामकथा पर नृत्य नाटय (उदयनांकर, सचिनशंकर, चन्द्रशेखर (भारतनाटयम) की भूमिजा आपेरा, पारसी (अगाहश्र की सीता बनवास) रामलीला की फिल्में (भरत–मिलाप, रामराज्य सम्पूर्ण रामायण) टीवी सीरियल और आधुनिक नाटक शैली अध्ययन की अपेक्षा करते हैं। जापान ने एनीमेटेड (सजीव) कार्टून द्वारा रामकथा प्रस्तुत की है। वहाँ हनुमान को हीरो बनाकर कार्टून फिल्में बन रही हैं, टी.वी. सीरियल तैयार हो रहे हैं। रामायण पर फिल्म बनाने का जोश अभी थम नहीं रहा है, हर निर्माता अपना दृष्टिकोण रख रहा है।

बन्धु, समय बहुत है, जीवन छोटा और हाथ छोटे पड़ते हैं, कथा का सागर अति विशाल है या कहें अनन्त है। प्रभु कृपा हो तभी पार उतरा जा सकता है। यत्कृपा हीं वंदे जगत् गुरूम्। आशा है, कुछ उत्साही रामभक्त रामलीला शैलियों के अध्ययन करने की बीड़ा उठायेंगे और राम कृपा से सफल होंगे।

विश्वधरोहर– रामलीला और वर्त्तमान परिदृश्य

लीला

आज एक प्रयास चल रहा है कि 'रामलीला' को विश्व–धरोहर घोषित किया जाय। इसके लिये पहले तो यह जानना आवश्यक है कि 'लीला' है क्या। हमारे प्राचीन साहित्य में लीला को नित्य, अवतार और अनुकरण लीला तीन प्रकार की बताया है परमात्मा को यदि बालक माना जाय तो वह अपने मनोरंजन के लिये जो खेल खेला करता है यह उसकी नित्य लीला है। यह जो हम नित्य देखते–सुनते हैं जैसे बाढ़, सूखा, भूकंप, विस्फोट, अग्निकाण्ड या सुंदर निर्माण, वनों की हरीतिमा ये सब उसकी लीला हैं जो अनवरत 'नित्य' चलती रहती है। हमारे ऋषियों ने कल्पना की कि जब–जब पृथ्वी पर अनाचार बढ़ जाता है तो प्रभु अवतार लेते हैं और दुष्कृत्य का विनाश करते हैं। इन अवतारों में (राम, कृष्ण आदि) प्रभु ने अवतारित होकर जो लीला की थी वह अवतार लीला है। अब इन अवतार कथाओं से प्रभावित भक्त उनका स्मरण करने हेतु उनकी लीला का अनुकरण करता है। वह अनुकरण लीला है। और इसी वर्ग में रामलीला, कृष्णलीला, वामन, नृसिंह लीला करते हैं। ध्यान रहे मानव की औकात नहीं कि वह हूबहू अवतार लीला का पुनरार्वन कर सके पर अपनी सामित क्षमता में, औढ़े ढंग से नहीं सही अनुकरण करके वह प्रभु की पूजा करता है, जीवन को सही पथ पर चलाने की प्रेरणा लेता है, वही है रामलीला या कृष्णलीला। क्या इसका कोई निदेशक साहित्य है? वैष्णव परंपरा में 'पाँचरात्र संहिता' रामकृष्ण लीला अनुकरण सिद्धान्त जैसे ग्रंथ है जो लीला कैसे करें यह बताते हैं। मूल रूप से लीला

एक अनुष्ठान है, पूजा–विधि है जो करने वले और देखने वाले दोनो को पापा और दोष से मुक्त करती है लीला की कथा रामायण, श्रीमद्भागवत तथा पुराणों से प्राप्त होती है।

रामलीला

यहाँ हम रामलीला की चर्चा करेंगे। ये सब रामकथा पर आधारित है। वाल्मीकि रामायण तथा शताधिक रामकथाओं पर लीला की जाती है। उत्तर भारत की रामलीलाओ का आधार तुलसी की रामचरित मानस है। यहाँ दो बातें स्पष्ट समझ लेना होगा। रामलीला नाटक नहीं है। लोक नाटय (फोक ड्रामा) भी नहीं है। यह अपनी अनूठी विधा है दूसरे यह कि रामकथा विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय कथा है और 'कला' के सभी आयामों ने उसे अपनाया है पत्थर में चित्र उकेरे गये हैं, मूर्तिया बनी हैं, चित्रकला की हर शैली ने उसे अपना विषय बनाया है, संगीत और नृत्य ने अपनाया है और प्रदर्शन कला या नाटक के हर रूप में इसका मंचन किा गया है। रामलीला नृत्य नाटक, रामकथा पर लिखे गये दर्जनों मार्गीय नाटक (हर भाषा में), छाया और पुतली नाटक, ध्वनि और टी.वी. नाटक, तथा लोक नाटकों के भवाई जात्रा, यक्षगान, कथकली, कुडिअट्टम, नौटंकी ने रामकथाएं मंचित की है। 'रामलीला' के नाम से प्रदर्शित कार्यक्रमों में लोक नाटय शैली पारसी थियेटर या आधुनिक नाटक का रूप लिया गया है। इनमें यदि दिव्य चरित्रों या स्वरूप को भक्तिभाव से प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् लीला की अवधि में उन्हे 'भगवान' मानकर पूजा की जाती है तब तो

ठीक है अन्यथा उसे रामकथा कहना ही उचित होगा। इस मापदण्ड पर काशी की रामलीलाएं खरी उतरती है।

काशी की रामलीला में दिव्य पात्र या अल्पवय बालक होते हैं (क्योंकि 'भगवान' इन निर्दोष शरीर में ही अवतरित हो सकते हैं या वास कर सकते हैं) काशी की रामलीला सचल है– वह कथा स्थानों पर ही मंचित होती है जैसे रामनगर की रामलीला का प्रदर्शन स्थल बीस वर्ग किलोमीटर का है। काशी की रामलीला में चाक्षुषी यज्ञ, (झांकी) की प्रधानता है (चित्रकूट लीला और रामनगर की आरती)। लीला का मंच विधान नाटय जगत में अनूठा है। (तुलसी का चार मंच) काशी की रामलीला में एक अनूठी परंपरा है–'जुलुस' की'राम–बरात, नक्कटैया, भरत–मिलाप की शोभायात्राएं और इधर शिव–बारात और रामकथा मंदाकिनी यात्रा भी इस सूची में जुड़ गयी है। चित्रकूट की लीला जो 460 वर्ष से अधिक पुरानी है, मूलतः झाँकी लीला है अर्थात् इसमें संवाद नहीं के बराबर गतियाँ अत्यंत अल्प और मूल जोर श्रृंगार और झांकी पर होता है इस लीला का भरत–मिलाप विश्व विख्यात है अर्थात् सबसे छोटा (अवधि 5 मिनिट) और सबसे बड़ा (दर्शक 4 लाख) प्रदर्शन। रामनगर की लीला–घटित लीला है। पात्र लीला जीते हैं। दर्शक भी लीला के पात्र बन जाते है और अपनी विशाल रंगभूमि के कारण इसका विश्व में कोई सानी नहीं है। हजारों दर्शकों के बीच बिना, विद्युत, प्रकाश और ध्वनि–विस्तारक के लीला होती है और यहाँ की दर्शक–निष्ठा और तादात्म्य अदभुत है। इस लीला का विश्व–स्तर पर अध्ययन हुआ है और हो रहा है। तुलसी की रामलीला में मंच–विधान अनूठा और अध्यात्म

सम्मत है। नाटक की एक समस्या 'दर्शक और अभिनेता की दूरी' को इसमें मिटा दिया गया है। रामनगर और तुलसी की लीला में संवाद विशेष प्रकार के होते हैं अर्थात् अनपढ़ को समझ में आये ऐसे। रामलीला के सात मानस पाठ की परंपरा भी विशिष्ट है। तुलसी ने कहा है–'जाको अर्थ जहाँ है जैसो, लीला ललित लखावति तैसो।' मुख्य बात है श्रृंगारमय लीला–प्रभु के दर्शन जो भक्तों को कृतार्थ करते हैं।

उत्तर प्रदेश की लोक–विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान

जूनियर फेलोशिप की चतुर्थ रिपोर्ट
(१ जुलाई २०१७ से ३१ दिसम्बर २०१७)

सोनी कुमार गुप्ता

फाईल नं0– CCRT/JF-3/30/2015

पत्र संख्या – CCRT/JF-3/30/2015/31225

Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts

Sub Field:- Folk Theatre

36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli

Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India

: 7668220333

Email Id: sonikumar05@gmail.com

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

सेवा में,

निदेशक,
सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (CCRT)
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार
नई दिल्ली।

विषय :– जूनियर फेलोशिप की चतुर्थ रिपोर्ट के सम्बन्ध में

संदर्भ – फाईल नं. –CCRT/JF-3/30/2015

महोदय,

मैं सोनी कुमार गुप्ता आपके सुलभ संदर्भ हेतु अपनी कनिष्ठ अध्येतावृत्ति **''उत्तर प्रदेश की लोक विधाओं का राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में योगदान''** की चतुर्थ छमाही की रिपोर्ट प्रेषित कर रहा हूँ जो कि 01 जुलाई 2017 से 31 दिसम्बर 2017 के मध्य तैयार की गयी है।

आपसे विनम्र निवेदन है कि चतुर्थ छमाही का भुगतान अतिशीध्र करने की कृपा करें।

धन्यवाद!

आपका आज्ञाकारी

(सोनी कुमार गुप्ता)
फाईल नं0–CCRT/JF-3/30/2015
पत्र संख्या –CCRT/JF-3/30/2015/31225
Field :- Folk/Traditional and Indigenous Arts
Sub Field:- Folk Theatre
36B/39, Bhawapur, Post G.T.B. Nagar, Kareli
Allahabad – 211016 Uttar Pradesh, India
Mob: 7668220333
Email Id: sonikumar05@gmail.com

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

लोकगीत, लोकमानस की स्वतः स्फूर्त भावानुभूति की सहज अभिव्यक्ति है, जिसमें सामान्य जन–जीवन की आशा – निराशा, हर्ष–विशाद, सुख–दुख, जीवन–जागरण एवं विभिन्न कार्य–व्यापारों का उद्घाटन गेय पदों में होता है । जनमानस में स्वच्छन्द गति से उठती भाव–तरंगें जब केन्द्रीभूत हों लय, धुन की सहज सृष्टि करती हैं तो लोकगीतों को आकार मिलता है । लोकगीत भाषा और शिल्प की रूढ़ियों से पूर्णतः मुक्त होता है । भाव, लय और धुन द्वारा इसका नियन्त्रण होता है । सहज सम्प्रेषणीयता इसका प्रधान गुण है । लोकगीतों के अनाम धन्य रचयिता कवि से अधिक गायक हैं जिन्होंने समूह में आत्मा को विलीन कर तादात्म्य स्थापित किया है।

लेकगीतों का चेतना–केन्द्र लोक है जिसमें जड़ीभूत परम्पराएँ जीवन्त प्रक्रियाओं से सदा–सर्वदा संवेदित होती रहती है । स्वच्छन्दता मानव की मौलिक वृत्ति है और इसी सामूहिक वृत्ति–शक्ति से लोकगीतों का सृजन, पोषण और विकास सम्भव हुआ है । अनेकता में एकता, लोक–प्रज्ञा की विविधता और लोकमानस की रागात्मक समृद्धि ही लोकगीतों की वास्तविक शक्ति है ।

लोकगीतों की आदिस्त्रोत गाथाएँ एवं परम्पराएँ है । लोक कवि की अपनी संवेदनाएँ, लोक संवेदनाओं में विलीन होकर, भावविह्वलता के चरम बिन्दु पर पहुँच लोक–कण्ठ से फूट पड़ी है। काल प्रवाह के साथ उसमें विकास होता रहा है । गेयता , श्रवण –प्रियता, सम्प्रेषणीयता और

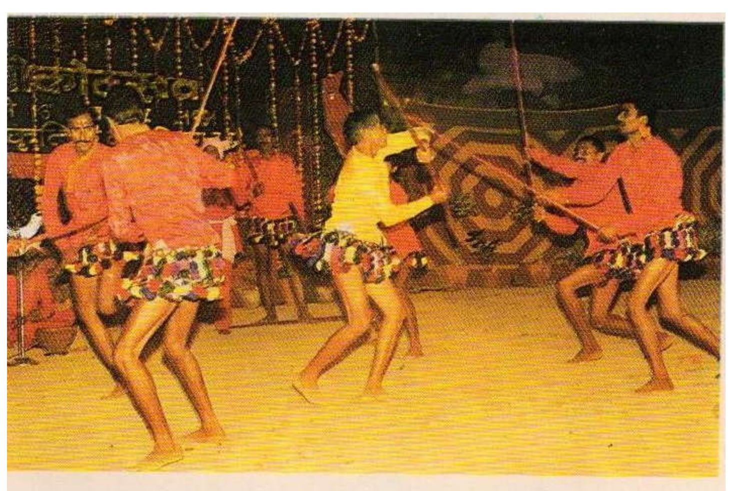

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

लोक–ग्राह्यता इसके संबल है । लोक–समर्थन की अमोघ शक्ति से यह सचेतन और आज भी तरोताजा है । लोकगीतों में लोक–संस्कृति घुलमिल कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी से तीसरी और इसी प्रकार पीढ़ी–दर–पीढ़ी गतिशील बनी रहती है । लोक का वृत्त विशाल है और लोकगीतों का व्यापक ।

लोकगीतों को अनेक देशी–विदेशी विद्वानों ने अपने – अपने ढंग से पारिभाषित किया है। सुप्रसिद्ध अँग्रेजी विद्वान 'ग्रिम' ने लोकगीतों को 'दी पोएट्री आफ दी पीपुल, बाई दी पीपुल, फार दी पीपुल' के रूप में पारिभाषित करते हुए लोकगीतों को लोकतंत्र के समानान्तर प्रतिष्ठापित किया है । विदेशी विद्वान 'पेरी' के अनुसार 'लोकगीत आदिमानव का उल्लासमय संगीत है ।' प्रसिद्ध अँग्रेजी लेखिका 'एवेलिन मार्टिनेन्गो' 'लोक–काव्य को व्यक्तिगत या सामूहिक तीव्र भावों का प्रकाशन' मानती हैं । भावविह्लता भावानिरेकता अथवा भावों का घनीभूत होना लोक–काव्य–सृजन के लिये अनिवार्य दशा है । इसी लेखिका ने लोकगीतों की विशालता को देखकर यहाँ तक कहा है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को कवि के रूप में परिणत कर दिया हो । वस्तुतः लोकगीत समस्त कविताओं की जननी है ।

भारतीय विद्वान डॉ0 कुँजबिहारी दास की दृष्टि में लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते है । यह परिभाषा विदेशी 'फोक' को भारतीय 'लोक' का पर्याय मानकर सृजित है ।

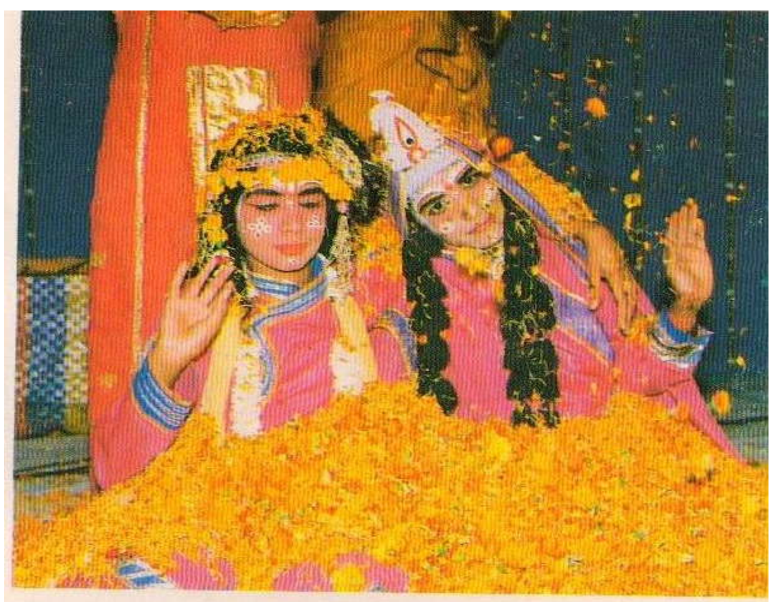

होली

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

'लोक द्वारा रचित' लो में प्रचलित और लोक द्वारा संचित गीतों को ही श्रीराम शर्मा ने लोकगीत कहा है । स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता, सरलता, सम्प्रेषणीयता, लोकग्राह्यता, समूहगत संवेद्यता, गेयता तथा रचनाकार का अज्ञात होना इसका अनिवार्य गुण है । भावातिरेक अवस्था में लोककवि की वाणी का स्त्रोत अनायास ही फूट पड़ता है । इसी कारण लोकगीत भावप्रधान होते है, विचार–प्रधान नहीं । भाव–तरंगें ही घनीभूत होकर लोकगीतों को आकार देती है । लोककवि, कवि से अधिक गायक होता है । वह भाव का धनी होता है । लोक का समग्र जीवन, उसका कार्य–व्यापार लोककवि का प्रेरणा–स्त्रोत है, जहाँ से संवेदित होकर वह अनायास ही गुनगुनाने लगता है । उसके होठों पर उभरे शब्द स्वतः ही गीतों में ढलते चले जाते है। उसे मूड बनाने, शब्द–संयोजन करने अथवा विचारमंथन की आवश्यकता नहीं पड़ती । भाव, लय और धुन ही लोकगीतों का विधायक है ।

लोकगीत राष्ट्रीय जीवन की अमूल्य निधि है । इनके माध्यम से इतिहास के अनेक तथ्य उद्घाटित होते है । 'सोने की थारी में जेवना परोसलो', मेरी धानी चुनरिया इतर गमकै' आदि भोजपुरी लोकगीत इस बात के प्रमाण है कि प्रचीन भारतीय जन–जीवन पर्याप्त समृद्ध था । बहुरा, पिड़िया, भइयादूज, जीउतिया आदि व्रत सम्बन्धी लोकगीतों में धर्म के अनेक गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं । भारतीय नारी के लिए सतीत्व का बड़ा महत्व है । लोकगीतों में इस नैतिक अवस्था के अनेकानेक चित्र उपलब्ध होते है । एक पतिपरायण स्त्री की स्वानुभूतिक गर्वोक्ति द्रष्टव्य है –''आपन सइयाँ लेई सुतबों मै कोरा, उनकर भतार हवे पानी के हिलोरा।''

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

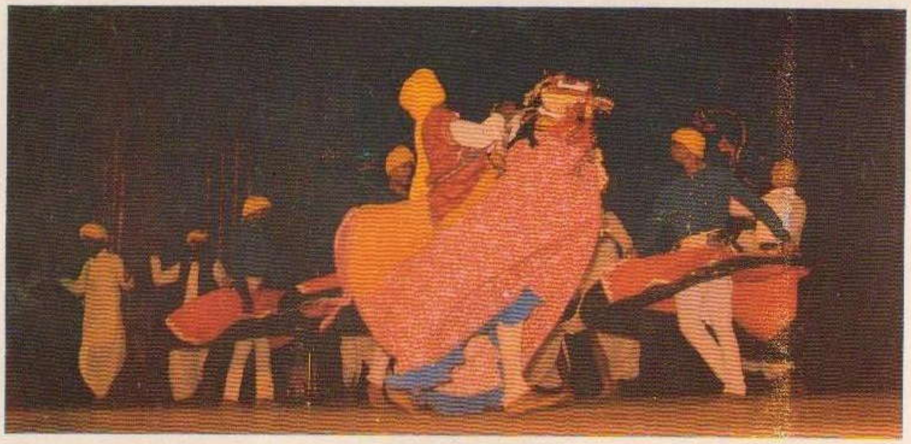

धोबिया नाच

भाषा–विज्ञान की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान लोकगीतों में छिपा हुआ है । इसके माध्यम से हिन्दी के अनेक अनसुलझे विकास–क्रम को वैदिक संस्कृति से जोड़कर समझा–समझाया जा सकता है । लोकगीतों मे जो विशाल शब्द सम्पदा तथा शब्द –शक्ति छिपी पड़ी है, वह भाषा वैज्ञानिकों के लिए अमूल्य निधि है । भाषा–विज्ञान की अनेक भावगत गुत्थियाँ लोकगीतों के अध्ययन से सुलझ सकतीं हैं । इसका अध्ययन भाषा–भण्ड़ार की दृष्टि से सहायक होगा । नये–नये शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों को लोक–भाषा से हिन्दी भाषा में अपनाने से हिन्दी भाषा की भाव–प्रकाशन शक्ति में अभिवृद्धि होगी ।

लोक–संस्कृति का जैसा दिव्य–प्रतिबिम्ब लोकगीतों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहाँ ? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकगीतों में लिपटी संजीव संस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ तक कहा है –''ग्राम गीतों का महत्व मोहनजोदड़ो से भी कहीं अधिक है । मोहनजोदड़ो सरीखे भग्न स्तूप ग्राम्य गीतों के भाष्य का काम कर सकते है ।'' सुप्रसिद्ध विद्वान राल्फ विलियम ने लोकगीतों के महत्व का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है – 'लोकगीत न पुराना होता है और न नया । वह तो जंगली वृक्ष की भाँति होता है जिसकी जड़े अतीत की गहराइयों में घुसी होती हैं परन्तु, जिसमें नित नई शाखाएँ नई पत्तियाँ और नए फल निकलते रहते है । '

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

लोकगीत किसी भी देश की जीवंत संस्कृति के प्राण हैं । उनमें धरती की सोंधी गंध है। लोक–जीवन का विराट स्वरूप उनमें संरक्षित है । हास–विलास, उमंग, उल्लास, आशा–निराशा, हर्ष–विषाद और जन–जीवन के सुनहले सपनों से सजे–धजे लोकगीत आज भी राष्ट्रीय जीवन के अभिन्न अंग है । भारत का अतीत लोकगीतों में छिपा है और उसका वर्तमान लोकगीतों में स्पन्दित है । वर्तमान को पहचानने के लिए आदिम अवस्था को जानना होगा । 'भूतकाल को समझे बिना वर्तमान को सही रूप में नहीं समझा जा सकता । '

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

लोकगीतों का चित्र–फलक इन्द्रधनुषी है जिस पर हृदय के भावचित्र विविध कलाओं के साथ अपनी बहुरंगी छटा का सम्मोहन छोडते हैं । लोकगीतों की सम्मोहन शक्ति उसकी स्वच्छन्दता, सरलता, भावों की अनुभूति और स्वरों के अलाप में हैं । लोकगीतों को स्वच्छन्द काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, जहाँ डिंगल, पिंगल का कोई नियम नहीं, छन्दशास्त्र जैसा कोई बन्धन नहीं । मन की उमंग, भावों की तरंग और लय में ही इसकी प्राणशक्ति निहित है । लोकगीतों में निहित यही प्राणशक्ति हमारे अपने हृदय में उभरते भावों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है और हम रस में डूब जाते हैं । लय ही काव्यत्व की सृष्टि कर लेती है और गीतों को काव्यमय बना देता है ।

लोकगीतों में रस का प्रवाह छलका पड़ता है लेकिन शास्त्रीय विभाव, अनुभाव और संचारियों के माध्यम से जिस प्रकार के रस की सृष्टि होती है, उसका लोकगीतों में

अभाव है। इसमें रस की सृष्टि स्वतः स्फर्त है । रस ही लोकगीतों के प्राण है । रस–विभोर कर देने की अपूर्व शक्ति के कारण ही यह अमर है ।

कविवर पंत ने लिखा है– 'भारतमाता ग्रामवासिनी' भारत की आत्मा गांवों में बसती है। यदि यह कहा जाय कि इस संसार में नाम एवं रूपमय जो कुछ भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है वह 'लोक' नहीं है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उत्तर प्रदेश का लोक साहित्य व लोक–रंग रीतिरिवाज, परम्पराओं संस्कारों में गुथा जनजीवन, ऋतुओं, सरिताओं, गिरि, अरण्य में बसी लोक सहचरी प्रकृति तथा मानव संवेगों के रूप में विद्यमान है।

जीवन के सुख और दुःख ही लोकगीतों एवं लोकनृत्यों के बीज है। लोकनृत्य एवं लोकगीत ह्रदय के खेत में उगते हैं। सुख के नृत्यगीत उमंग के जोर से जन्म लेते हैं और दुःख के गीत खौलते लहू से पनपते हैं और आंसुओं के साथी बनते हैं।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

लोकनृत्यों में निहित चरित्र निर्माण के सूत्र

1. चरकुला : राधा के जन्म की खुशी में किया जाने वाला यह व्रज का प्रसिद्ध पारम्परिक नृत्य है। चरकुला नृत्य 51 या 108 दीपकों की सहायता से नगाड़े की थाप पर किया जाता है।

2. दीवाली : युद्ध नृत्य का सा दृश्य उपस्थित करने वाला यह नृत्य बुन्देलखण्ड के अहीर समुदाय का पारम्परिक लोकनृत्य है, जो दीवाली के अवसर पर लाठियों की सहायता से किया जाता है।

3. पाई डण्डा : गुजराती डांडिया रास की याद दिलाने वाला यह नृत्य बुन्देलखण्ड के अहीर जाति का पारम्परिक नृत्य है। नर्तक हाथों में छोटे–छोटे डण्डे लेकर लय और ताल के साथ एक दूसरे के डण्डों पर प्रहार करते नृत्य करते हैं।

4. राई : भादों मास की कृष्ण जन्माष्टमी से प्रारम्भ होकर होली तक चलने वाला यह नृत्य बुन्देलखण्ड के सर्वोत्तम लोकनृत्यों में एक है। यह नृत्य राधा द्वारा कृष्ण को रिझाने के कारण इसे राई नृत्य कहा जाता है।

5. सैरा : सैरा बुन्देसलखण्डी किसानों का प्रिय नृत्य है। इस नृत्य का सम्बन्ध पाण्डवों द्वारा पण्डुवन में अज्ञातवास के दौरान मनोरंजन हेतु की गयी क्रीड़ा से जोड़ा जाता है।

ठोल, दमुआँ

6. धुरिया नृत्य गीत : बुन्देलखण्ड के धुरिया (कुम्हार) समुदाय का प्रसिद्ध नृत्य गीत हे– धुरिया समाप्त गीत। यह नृत्य मूल रूप से पुरूषों द्वारा किया जाता है। स्त्री चरित्रों की वेशभूषा में भी पुरूश्ही होते हैं।

7. ख्याल नृत्य : ख्याल लावणी बुन्देलखण्ड का एक परम्परागत प्राचीन गायन है, जिस पर नृत्य भी होता है। इस नृत्यगीत में

भक्ति और निर्गुण विचारधारा के गीत गाये जाते हैं। नृत्य में एक ओर वादक दल बैठता है। गायक इकतारा से धुन बजाता है तथा नर्तक स्त्री नृत्य प्रारम्भ करती है।

8. देवी नृत्य गीत : बुन्देलखण्ड के कुछ क्षेत्रों में देवी पूजन को जाते समय देवी नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में देवी रूप में एक पुरूश्नृत्य करता हुआ चलता है। ताल खेमटा में निबद्ध इस नृत्य गीत के बोल मनमोहक होते हैं।

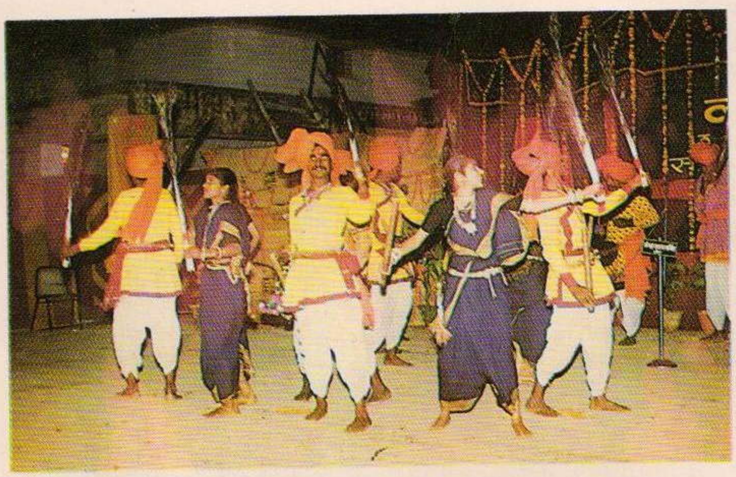

शैरा नृत्य

9. धुबियाराग नृत्य गीतः बुन्देलखण्ड क्षेत्र के धोबी समुदाय के जातीय नृत्य को 'धुबिया राग' के नाम से जाना जाता है। इसे धीवर समुदाय के लोग भी करते हैं। किसी शुभ अवसर अथवा उल्लास के क्षणों में इस नृत्य का आयोजन होता है। इस नृत्य की मूल संरचना नाट्य–नृत्य की है, इसमें संवाद का भी खासा महत्व होता है। इस नृत्य का

प्रारम्भ एक दोहे के गायन से तथा समापन प्रायः गज देवता की स्तुति से होता है।

10. धीवर राग : बुन्देलखण्ड के कुछ अंचलों में कहार समुदाय के लोग जीविकोपार्जन के लिये कृश्किर्म के अलावा नाच गाने का कार्य भी करते हैं। शादी–ब्याह, जन्म एवं अन्य मांगलिक अवसरों पर इस समुदाय द्वारा किये जाने वाले नृत्य गीतों को धीवर राग कहा जाता है।

11. सगाई नृत्य : यह एक वृत्ताकार अथवा अर्द्धवृत्ताकार नृत्य हे जो विवाहोपरान्त घर लौटने पर खुशी में किया जाता है। यह नृत्य कहारों द्वारा किया जाता है।

12. बियाह नृत्य : बारात के घर से ब्याह हेतु चलने पर यह नृत्य होता है। इन नृत्य गीतों में दूल्हे की तुलना राम से और दुल्हन की तुलना सीता से की जाती है। इस नृत्य के गीत ताल आल्हा कहरवा में होते हैं।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

13. देवी पूजन नाच : नव वधू द्वारा देवी पूजन हेतु जाने की किया को अभिनटन के द्वारा प्रस्तुति इस नृत्य में किया जाता है। इसमें जोकर दूल्हे की भूमिका में होता है। ये गीत अधिकतर खेमटा ताल में गाये जाते हैं।

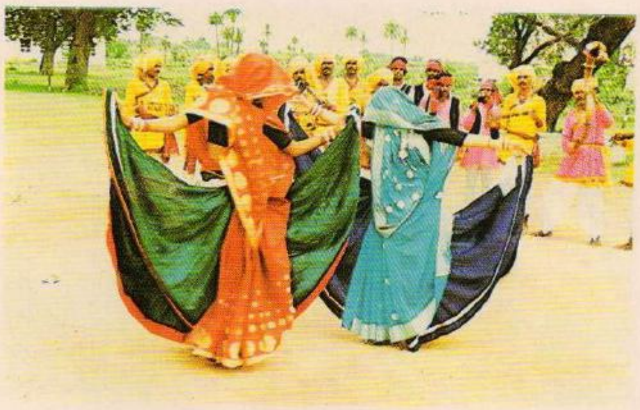

राई नृत्य

14. कुऑ पूजन नृत्य : यह नृत्य शिशु जन्म के पश्चात कुऑ पूजन के समय होता है। इस नृत्य में भी अभिनन्दन किया नर्तकों द्वारा सम्पन्न होती है। यह नृत्य धींवर समुदाय द्वारा किया जाता है।

15. कातिक गीत नृत्य : बुन्देलखण्ड में कुछ जातियों में कार्तिक मास बड़ा शुभ माना जाता है। महिलायें विशेश्संयम और उपवास करती है और प्रातः नहाने जाते समय कृष्ण भाषित हो सम्बद्ध गीत गाती है।

धीवर समुदाय के लोग इस अवसर पर इन गीतों का नृत्य अभिनटन करते हैं। नर्तक दल में एक व्यक्ति जोकर के रूप में और शेश्सभी स्त्री वेश में होते हैं।

16. नटवरी नृत्य : उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिला सुल्तानपुर और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में इस नृत्य का प्रचलन है। इसे यादव समुदाय के लोग करते हैं। कृष्ण और ग्वालबालों के धेनुचारन सुसंग से जुड़ा यह नृत्य अत्यन्त आकर्षक होता है। कहरवा और अर्द्ध कहरवा ताल का यह नृत्य पुरूषों द्वारा किया जाता है।

17. पासी नृत्य : उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, जौनपुर आदि क्षेत्रों में पासी अथवा पासवान जाति का यह पारम्परिक लोकनृत्य है। यह नृत्य पुरूषों द्वारा किया जाता है।

18. धोबिया नृत्य : पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जनपद के धोबी समुदाय का यह प्रसिद्ध परम्परागत लोक नृत्य है। यह नृत्य, जन्म, गौना, मुण्डन, जनेऊ आदि अवसरों पर होता है। रंग बिरंगी पोशाक पहने नर्तकों का यह नृत्य पहले धीमा दादरा ताल से शुरू होता है जो चरमावस्था में द्रुत दादरा हो जाता है। कमर में बंधे घुंघरू की आवाज नृत्य की गतियों और वाद्य यंत्रों के थाप से इतनी

मनभावन बन जाती है कि मन बरबस आकृष्ट हो जाता है।

19. कलाबाजी : यह नृत्य अवध क्षेत्र के सीतापुर जिले में विशेशरूप से प्रचलित है। इस नृत्य में पुरूश्नर्तक चमकीली गोटेदार रंगीन साड़ी एवं गिलट के आभूषण पहन स्त्री वेशभूषा में नृत्य करते हैं।

20. जोगिनी नृत्य : अवध के समीपवर्ती क्षेत्रों का यह प्राचीन लोकनृत्य है, जिसका सम्बन्ध राम के जन्म प्रसंग एवं पुत्रेष्टि यज्ञ से जुड़ा है। इस नृत्य में नर्तक जोगिनी का वेशधारण कर नृत्य करते हैं।

21. करमा नृत्य : उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर एवं सोनभद्र जिले के आदिवासियों का यह परम्परागत प्रसिद्ध आनुष्ठानिक नृत्य है। श्रम एवं कर्म के महत्व को रेखांकित करने

वाला यह नृत्य आदिवासी व युवा, युवतियों का प्रिय लोकनृत्य है। इसका प्रारम्भ बैगा द्वारा कदम्ब और धौरा वृक्ष के डाल की पूजा से होता है।

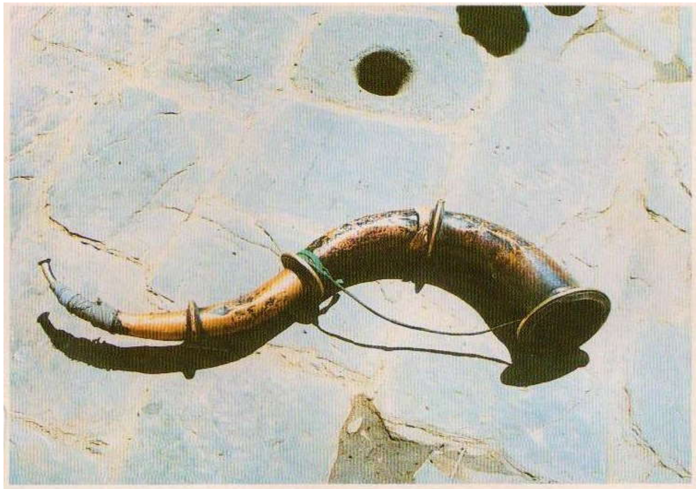

तुरी

22. झूमर नृत्य : उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र के मिर्जापुर जिले के आदिवासी क्षेत्रों में झूमर नृत्य होता है। घसिया, धांगर, खैरवार जाति के लोगों का यह नृत्य शादी, ब्याह एवं मांगलिक अवसरों पर किया जाता है।

23. कोल दहकी नृत्य : मिर्जापुर के कोल आदिवासियों का यह परम्परागत नृत्य हे, जो मादल की थाप पर किया जाता है। विश्राम के क्षणों में आनन्द प्राप्ति का परिचायक है। इस नृत्य की लयात्मकता बरबस ध्यान आकृष्ट करती है।

24. डोमकच नृत्य : पूर्वी क्षेत्रों में डोम समुदाय एवं विशेषतः मिर्जापुर के आदिवासी क्षेत्रों में घसिया और गोंड़ आदिवासियों में इस नृत्य का बहुत महत्व हे। डोमजाति के प्रति सम्मान भाव

का सूचक इस नृत्य की लयात्मकता बरबस ध्यान खींचती है।

25. धरकहरी नृत्य : इस नृत्य में मिर्जापुर और पूर्वी क्षेत्रों के धरकार समुदाय का यह लोकप्रिय नृत्य है। मुख्यतः यह पुरूषों का नृत्य है, अपनी गतिमयता एवं लयात्मकता के कारण यह नृत्य अत्यन्त प्रभावी होता है।

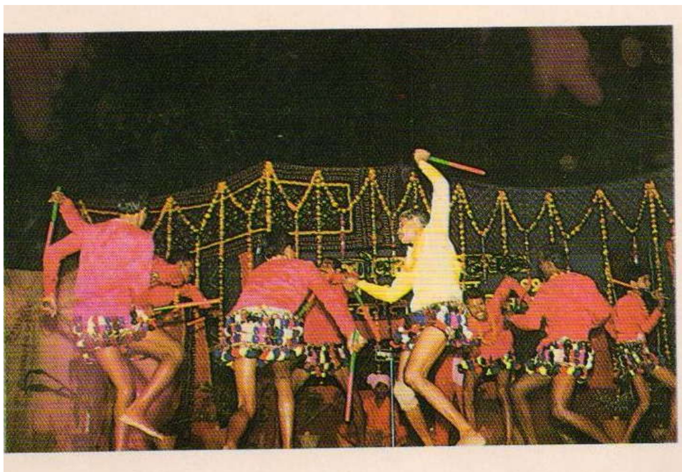

पाई – डन्डा

पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी लोकगीतों में निहित चरित्र निर्माण के सूत्र

भोजपुरी लोकगीतों में श्रृंगार, करूण, हास्य, वीर और शान्त रसों का प्राधान्य है । रसराज श्रृंगार के दोनो पक्षों–संयोग और वियोग की छटा लोकगीतों में देखते ही बनती है । श्रृंगार का प्रायः उदात्त स्वरूप ही लोकगीतों मे रूपायित है । यथा :

'आधी राति जनि अइह मोरे राजा हो नगर के लोग डेराई'

(संयोग श्रृंगार)

'आजु के गइल भँवरा, कहिया ले लवटवा,

कतेक दिनवाँ हम जोहबि तोहरी बटिया, कतेक दिनवाँ'

(वियोग श्रृंगार)

भोजपुरी लोकगीतों में करूणा रस का भी वृहद् परिपाक हुआ है । लड़की की विदाई के अवसर का कारूणिक चित्र देखिए–

'आमाके रोअले गंगा बढ़ि अइलो, बाबा नयनवाँ ढूरे लार ।

भइया के रोवले चनर धोती भीजे, भउजी नयनवाँ न नीर ।।

लेककवि अपनी भावना के हिलोर में गीतों की रचना करता है जिससे अलंकार विनियोजन की प्रवृत्ति उसमें नहीं पायी जाती । भावों के साथ बहकर अलंकार स्वयं लोकगीतों में आ जाते है । लोकगीतों के साथ जुड़े अलंकारों में मौलिकता, सरलता एवं आत्मीयता का पुट पाया जाता है । भोजपुरी लोकगीतों में मुख्य रूप से उपमा, रूपक, श्लेश्और यमक अलंकार मिलते है । सर्वाधिक प्रयोग उपमा अलंकार का हुआ है । लोककवियों ने उपमानों का चयन परम्परा से न करके अपने आस–पास के

परिवेश, दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपादानों से किया है । ग्रामीण सुन्दरी के सौन्दर्य का उपमानरंजित वर्णन लोककवि इस प्रकार करता है –

1

‘हुरवा नियर तोर जूरवा ए गोरिआ
पूअवा नियर तोर गाल ।
पनवा नियर तू पातर बाड़ू गोरिआ,
लोटवा नियर तोर भाल।’

2

‘अँखिया त हई जइसे आमवा के फँकिया,
नाक हवन सुगना के ठोर।
दाँतवा से हवन जड़ल बतिसिया,
होठवन कतरल पान।’

उपर्युक्त गीतों में जूड़ा को हूरा से, गाल को पूआ से, इकहरी देह और होठ को पान से, ललाट को लोटे से, आँख को आम की फाँक से, नाक को तोते की ठोर से उपमानित किया गया है । ये सभी उपमान मौलिक हैं और ग्रामीण जन–जीवन और परिवेश से चयनित है । ये सभी उपमान सर्वथा नए और तरोताजा हैं जो बासी परम्परागत उपमानों की अपेक्षा उपयुक्त और प्रभविष्णु हैं ।

लोकगीतों में रूपक अलंकार का खण्डित स्वरूप ही पाया जाता है । साँगरूपक का यहाँ अभाव है । कारण, रस के प्यासे लोककवियों के हृदय में उठती भाव तरंगों के विश्राम करते ही रूपक की लड़ियाँ बीच में ही टूट जाती है । यथा : ‘सिर पर लीहल अजादी गगरिया, डगरिया सम्हरि के चलीह ना ।’

लोकगायन शैली आल्हा में निहित चरित्र निर्माण के सूत्र

सोहर, लावारी, कजरी–पीतमा, चनैनी, चेता जैसे सरस लोकगीतों की भांति आल्हा भी लोकगायन की एक अद्भुत प्रभावोत्मक शैली है। आल्हा लोकगाथा काव्य है। इसमें आल्हा–ऊदल, मलखान जैसे वीरो द्वारा लड़े गये युद्धो का वर्णन है। लोक गायक जगनिक ने अपने युग के किसी राजा को अपने काव्य का नाक न बनाकर परमाल राजा के दो सेनानायकों को अपने काव्य का विषय बनाया है जो बनाफर जाति के थे। आल्हा की गाथा जनमानस में इतनी समाहित हो चुकी है कि उसको अलग कर सकना कठिन है। लगभग सात सौ वर्ष तक आल्हा की कथा एक कंठ से दूसरे, दूसरे से तीसरे कंठ में होती हुई आज लोक कंठ में बस गयी है। इसी कारण हम इसे लोकगाथा काव्य की संज्ञा से विभूति करते हैं। आल्हा और उनकी कथा का उत्पत्ति केन्द्र वर्तमान बुन्देलखण्ड है किन्तु वह उस सीमा को तोड़कर उत्तरी भारत के गांव–गावं में प्रचलित है जो उसकी लोकप्रियता का साक्षी है।

आल्हा की मौखिक परम्परा–आल्हा का प्रथम गायक जगनिक लोक कवि था। उसने सरल भाषा में आल्हा की कथा का गायन किया। लोक गाथाएं या लोकगीत लिपिबद्ध नहीं होते थे, मौखिक ही अधिक होते हैं। आल्हा की कथा सात–आठ शताब्दी तक लोक रूचि और लोक संरक्षण में मौखिक रूप से सुरक्षित रही और इसका निरन्तर गायन होता रहा। प्रारम्भ में आल्हा का क्या स्वरूप था, यह बता सकना कठिन है।

आल्हा खण्ड का प्रकाशन–सबसे पहले फर्रूखाबाद के अंग्रेज कलक्टर सर चार्ल्स इलियट ने आल्हा खण्ड की महत्ता को समझा। सन् 1872 ई0 में मुंशी रामस्वरूप ने इलियट साहब की स्वीकृति से अपने दिलकुशा प्रेस फतेहगढ़ से इसे प्रकाशित किया। इस संग्रह में तेइस लड़ाइयों का विवरण है। इलियट महोदय ने आल्हा खण्ड के कुछ अंशो का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था जो बाद में डॉ0 ग्रियर्सन की भूमिका के साथ ''द ले आफ आल्हा'' के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् 1880 ई0 आगरा से भी आल्हा खण्ड का प्रकाशन हुआ। खेमराज श्री कृष्णदास–बम्बई ने भी अपने यहां से आल्हखण्ड का प्रकाशन किया जिसमें तैंतीस लड़ाइयों का वर्णन है। चावड़ी बाजार, दिल्ली से प्रकाशित आल्हा खण्ड तेइस लड़ाई और बावनगढ़ विजय का वर्णन है। इस प्रकाशित आल्ह खण्ड के आधार पर कई कवियों ने उसी प्रतिरूप पर स्वतंत्र ढंग से आल्ह खण्ड की रचना कर डाली जिनमें आल्हा की बावन लड़ाइयों का वर्णन मिलता है और इसी आधार पर आल्हा की गणना बावन वीरों मे होने लगी। सन् 1980–81 ई0 मे कैलीफोर्नियां विश्वविद्यालय वर्कले (अमेरिका में कार्यरत) सुश्री कैरिन ने आल्हे की गाथा से सम्बन्धित स्थलों की यात्रा कर हर क्षेत्र के आल्हा सुनकर उसे टेप कर लिया है। सुश्री शोमर ने दि हीरोज आफ दी आल्हा इपिक एण्ड देअर फेथ

शीर्षक से शोध प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अपनी विशेषताओं के कारण आल्हा को गाथा ने भारत के बाहर अमेरिका तक मे अपना स्थान बना लिया है।

आल्हा की कथा का अनुकरण–आल्ह खण्ड एक ही लोक धुन में मिलता है जिसे लोग वीर रस का छंद कहते है। इसके सभी आख्यान कड़खा युद्ध की तैयारी, तलवारों की झनझनाहट तथा मारकाट से युक्त हैं। आज के अल्हैत भी सुर में अंतर रखते हुए भी इसी छंद को ग्रहण किए हैं। सोलह–पन्द्रह मात्राओं की गति यति वाला यह छन्द ह्स्व में अन्त पाता है। इस छंद की लोकप्रियता इतनी अधिक हुई कि कई कवियों ने इसी शैली और छंद में अपनी रचनाएं प्रस्तुत की जिनमें बुन्देलखण्ड के ही निवासी प्रख्यात कवि नवल सिंह प्रधान का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आल्हा रामायण और आल्हा भारत की रचना की। नवल सिंह ने आल्हा को एक विशेश्प्रकार का छंद स्वीकार किया है। इस प्रकार लोक कवि जगनिक की शैली का सदैव अनुकरण होता रहा।

आल्हा की कथावस्तुः

आल्हा की कथावस्तु इतनी सुगठित है कि एक के बाद दूसरी लड़ाई का क्रम बना रहता है। कथा में यत्र–तत्र अलौकिक तत्वों का भी समावेश है। पूरी कथावस्तु को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है– बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत के तीन प्रमुख राज्यों–कन्नौज, दिल्ली और महोबा के राजाओं– जयचंद गहरवाद, पृथ्वीराज चौहान तथा परमाल चंदेल के मध्य हुए युद्धों का वर्णन ही आल्ह खण्ड का मुख्य विषय है। इन युद्धों में परमाल के आश्रय में पहले दो वीरों आल्हा और ऊदल ने उनकी ओर से हर मोर्चे पर युद्ध किया है और हर युद्ध में विजयश्री ने उनका वरण

किया है। इन्हीं घटनाओं का जगनिक ने जनभाषा में वर्णन कर उसे सर्व सुलभ बनाया है। आल्हा खण्ड विभिन्न समयों मे विभक्त है। आल्ह खण्ड के प्रारम्भ में मंगलाचरण है फिर देवी–देवताओं, व्यास, नारद आदि की सुमिरनी।

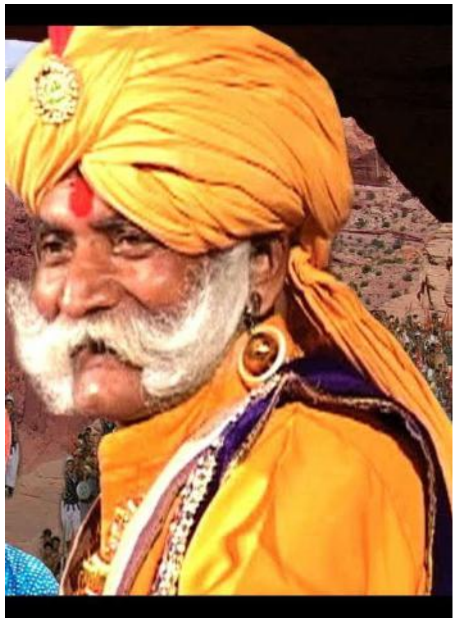

आल्ह खण्ड का प्रथम समय प्रस्तावना के रूप मे राजा परमाल का ब्याह महोबा की पहली लड़ाई है। इसमें महोबा के राजा बासुदेव की पुत्री मल्हना देवी के रूप सौन्दर्य की चर्चा सुनकर परमाल अपने मंत्री चिंतामणि के परामर्श से महोबा पर आक्रमण कर देता है। भयंकर युद्ध के बाद मल्हना ने उसका विवाह सम्पन्न होता है। मल्हना देवी महोबा में ही रहने की इच्छा व्यक्त करती है। अतः परमाल बासुदेव को उरई का राज्य देकर महोबा को अपनी राजधानी बनाकर रहनेलगता है। पहले वह चंदेरी का शासक था।

दूसरे समय में संयोगिनि (संयोजिता) स्वयंवर में– पृथ्वीराज और जयचन्द का युद्ध वर्णन है। युद्ध में पृथ्वी राज विजयी होता है और संयोगिता से विवाह कर लेता है।

तीसरी लड़ाई महोबा की है जिसमें माड़ो का राजकुमार करिया अपनी बहन के लिए नौलखाहार पाने के उद्देश्य से महोबा पर आक्रमण करता है किन्तु बनाफर द्वारा पराजित होकर लौट जाता है। परमाल बनाफर वीरों दस्सराज और वच्छराज को अपने क्षेत्र में रख लेता है और उनका विवाह मल्हना दवी की बहनो के साथ करत देता है। आल्हा और मलखान के जन्म के पश्चात करिया पुनः महोबा पर आक्रमण करता है और दस्सराज तथा वच्छराज का शीश काटकर महोबा को बुरी तरह लूटता है। पिता की मृत्यु के कुछ दिन बाद ऊदल का जन्म होता है और मल्हना देवी उसका पालन पोषण करती है। चौथे समय में माड़ौ की लड़ाई का वर्णन है। एक दिन शिकार खेलते हुए ऊदल उरई पहुंच जाते हैं और पानी पीने के लिए वहां की पनिहारिनों से झगड़ा कर लेते हैं। पुनः माहिल के लड़के अभई से उनकी कहा सुनी होती है। इसी क्रम में ऊदल अभई का हाथ तोड़ देते हैं। यह सुनकर माहिल ऊदल को उनके पिता का वध किस प्रकार हुआ था। यह बताकर ताना मारता है। ऊदल को माहिल की बात लग जाती है। महोबा लौटकर अन्य बनाफरों के साथ वे योगी वेश बनाकर मांड़ौ गढ़ पर चढ़ाई कर उसे ध्वस्त कर दते हैं पाचंवे समय में सिरसा की लड़ाई का वर्णन है। पृथ्वीराज का पुत्र पारथ सिरसा का अधिकारी है। मलखान सिरसा के जंगलों में शिकार खेलते हुए एक हरिण मारतें है, दोनों मे वाक्युद्ध होता है। इसी समय मलखान को ज्ञात होता है कि यह तो उनके पिता की जागीर थी। दोनों में पुनः युद्ध होता है और सिरसा पर मलखान का अधिकार हो जाता है। छठें समय में आल्हा का ब्याह नैनागढ़ की लड़ाई का हाल है। कुमारी मछुआ (सोनवां) आल्हा को पति के रूप में चाहती है। वह महोबा संदेश भेजती है। नैनागढ़ पर आक्रमण होता है और बलपूर्वक आल्हा का सोनवां के साथ विवाह सम्पन्न होता है। सातवें समय में पथरीगढ़ की लड़ाई में मलखान का विवाह होता है। आठवें समय में बौरीगढ़ की लड़ाई है। ऊदल अपनी बहन चन्द्रावलि को विदा कराने के लिए जाता है। माहिल की चुगली युद्ध कराने में समर्थ होती है। भेद खुलने पर चन्द्रावलि की निंदा के साथ आठवा समय समाप्त होता है। नवें में दिल्ली का युद्ध (ब्रम्हा ओर बेला

का विवा) ग्यारहवें समय में मलखान का विवाह (कुमायूंगढ़ की लड़ाई) बारहवें समय में बुखारा की लड़ाई (धाधू का) विवाह वर्णन है। तेरहवें समय में इंदल का हरण होता है। गंगा स्नान पर्व पर ऊदल भी इंदल के साथ जाता है। वहीं पर बुखारा के राजा अभिनन्दन की पुत्री चित्ररेखा इंदल का अपहरण कर लेती है। मकरंद के सहयोग से ऊदल इंदल को ढूंढ़ लेता है। चौदहवें समय में इंदल का विवाह सम्पन्न होता है। पन्द्रहवें समय में इन्दल के दूसरे विवाह पथरियागढ़ की लड़ाई का वर्णन है। पथरियागढ़ (पथरीगढ़) का राजा मछला का हरण कर लेता है। मछला राजा की बेटी सुआपंखिनी को अपनी बहू बनाने का आश्वासन देती है। युद्ध होता है और सुआपंखिनी के साथ इंदल का विवाह। सोलहवें समय में सिंघल द्वीप की लड़ाई और यहीं पर इंदल का तीसरा विवाह होता है। सत्रहवें समय में महोबा से भरभादौं महीने में आल्हा ऊदल को देश निकाला की कथा है। अठारहवें समय में लाखन का विवाह कामरू (बंगाल) देश की लड़ाई का हाल है। उन्नीसवां समय गाजर की लड़ाई से विख्यात है। इसमें जयचंद के अधीन राज्यों के स्वतंत्र होने की प्रक्रिया और उनसे ऊदल द्वारा कर लिये जाने एवं जयचंद की अधीनता स्वीकार करने का वर्णन है। बीसवें समय में सिरसागढ़ की दूसरी लड़ाई का वर्णन है जिसमें पृथ्वीराज सिरसागढ़ पर आक्रमण करते हैं। मलखान की मृत्यु और और गजमोतिन की सती होने की कथा संगुफन हुआ है। इक्कीसवें समय में महोबा के प्रसिद्ध तालाब कीरत सागर पर भुजरियों की लड़ाई का वर्णन है। पृथ्वीराज श्रावण ी के पर्व पर पुनः महोबा पर आक्रमण करता है। लाखन और ऊदल से पराजित हो पृथ्वीराज वापस चला जाता है। श्रावणी का मेला विधिवत है। बाइसवां समय आल्हा मनौवां का है। यह पूरे आल्ह खण्ड का हृदय है। पृथ्वीराज सदल–बल महोबा पर फिर से आक्रमण करता है। मल्हनदे रानी आल्हा–ऊदल को मनाने के लिए जगनिक को कन्नौज भेजती है। वह

कहती है कि अब मै जगजोगिन होगी हां, कि जगनायक आल्ह मनैये जगनिक के

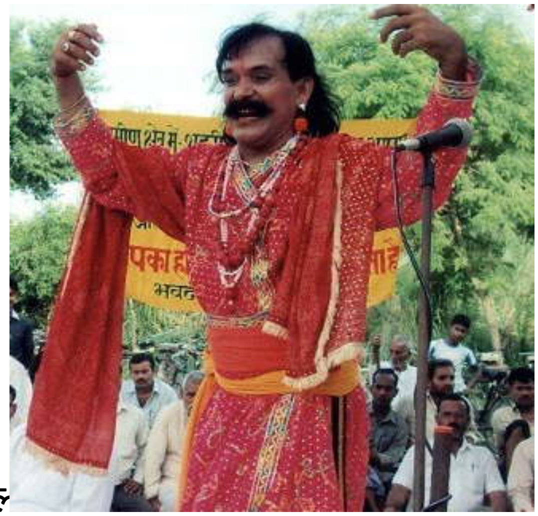

कहने पर आल

हा–ऊदल अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए महोबा आते हैं। तेइसवें समय मे लड़ी बेतने तीर की लड़ाई (लाखन की विजय) का वर्णन है। चौबीसवें में ऊदल हरण की लड़ाई है। जूनागढ़ की बेड़िनी शोभा गंगा तट से ऊदल को सम्मोहन मंत्र से संमोहित कर उठा ले जाती है। मछला बेड़िन के मंत्र को काटकर ऊदल को बंधनमुक्त करती है। पच्चीसवें समय में अमरगढ़ की लड़ाई, लाखन के दूसरे विवाह की गाथा है। छब्बीसवें समय में मलखान के पुत्र जलसूरि के विवाह के साथ दिल्ली की लड़ाई का हाल है। सताइसवें समय में सागर की लड़ाई में आल्हा के पुत्र भयंकर के विवाह होने की कथा है।

अट्ठाइस और उन्नीसवें समय में बेला के गौने की क्रमशः पहली एवं दूसरी लडत्राई का वर्णन है। तीसवें समय में बेला ताहर का सिर काट लेती है। वह मृत्यु के मुख में चला जाता है। एकतीसवें समय में बेला के सती होने के लिए चंदन की लकड़ी के लिए दिल्ली चंदन बगिया काटने की लड़ाई होती है। बत्तीसवें समय में चंदन खंज उखाड़ने की लड़ाई का वर्णन है। इस लड़ाई में पृथ्वीराज और परमाल को सैन्य शक्ति का पर्याप्त ह्रास होता है। लाखन, ऊदल जैसे योद्धा इसी युद्ध मे वीरगति को प्राप्त करते हैं। आल्हा अपने पुत्र इंदल के साथ कजरी बन को प्रस्थान

करते हैं। इस प्रकार जगनिक ने आल्ह खण्ड को युद्ध के साथ विवाह होने का जामा पहनाया है।

आल्ह खण्ड में अलौकिक तत्वो–आल्ह खण्ड में जगनिक ने कहीं–कहीं अलौकिक तत्वों का भी समावेश किया है। यथा–देवी–देवी–देवताओं द्वारा अपने उपासकों को युद्ध में बिजली होने का वरदान देना औश्र उनका प्रत्यक्ष साथ देना। माँ भगवती ने आल्हा को एक अनेक खड्ग प्रदान किया था। इस खड्ग का उपयोग आल्हा ने पृथ्वीराज की सेना के संहार के लिए किया था। इसकी यह विशेषता थी कि खड्ग उठाने से जहां तक उसकी आभा पड़ती थी वहां तक खड़े सब वीर सिर विहीन हो जाते थे। इसी प्रकार देवी ने ऊदल को आशीर्वाद दिया था। स्वप्न की गणना भी अलौकिक तथ्यों में की जाती है। कजरी के युद्ध में रानी मल्हना दे के सावन पर देवी शारदा ने ऊदल को स्वप्न दिया था। इसी प्रकार बेला के आभूषण प्राप्त करने के लिए देवी इन्द्रलोक जाती है। मछला हरण के समय देवी पथरिया कोट से कन्नौज जाकर मछला के जादू को जानती है औश्र उसे पलंग सहित पथरिया को उठा लाती है। नैनागढ़ के राजा के पास देवराज इन्द्र द्वारा प्रदत्त अमर ढोल है जिसकी आवाज सुनकर मृतक व्यक्ति जीवित हो उठता है। पथरीगढ़ के राजा के पास अगिनिया घोड़ा है वह जिधर पूंछ घुमाता है आग लग जाती है। इसी प्रकार नरवरगढ़ में काठ का घोड़ा शैल, शनीचर, अजीत वाण जैसे देवी प्रदत्त साधन है।

जंत्र–तंत्र, जादू–टोने का भरपूर प्रयोग आल्ह खण्ड में हुआ है। हर लड़ाई में जादू–टोने, जंत्र–मंत्र का प्रयोग मिलता है। नरवरगढ़ में मालिन जादू चलाती है तो ऊदल हरण में शोभा नटिनी। सुनवां की भांति हिरिया मालिन भी जादूगरनी थी। सुनिया बेड़नी ने तो ऊदल को तोता बनाकर हरण कर लिया था। मलखान के ब्याह

में श्यामा भगतिन जादू की पुड़िया छोड़ती है तो इंदल हरण में राजकुमारी चित्रलेखा। इस प्रकार आल्ह की गाथा में अलौकिक तत्वों का समावेश किया गया है। जिस पर लोक मानस अधिक विश्वास करता है। ऋषियों और योगियों के शाप सेलोग बहुत डरते हैं। इसका पूरा फायदा आल्हा ऊदल ने उठाया है। वे योगी वेश्में मांड़ौगढ़ का सारा भेद जान लेते हैं। इंदल भी योगी के भेश्में मांड़ौगढ़ का सारा भेद जान लेते है। इंदल भी योगी के वेश में ही सिंहलद्वीप जाता है। इसके अतिरिक्त कार्य सिद्धि के लिए पशु–पक्षियों का भी उपयोग आल्ह खण्ड में हुआ है।

आल्ह की कथा का विस्तार क्षेत्र–आल्हा और उनकी कथा की उत्पत्ति का स्थान बुन्देलखण्ड है किन्तु आज यह गाथा समूचे उत्तर भारत के गांव–गांव में परिव्याप्त है।

आल्हा के गायन का समय विशेषरूप से वर्षाकाल है–भरी दुपहरी सरवन गाईए, सोरठ गाइए आधीरात आल्हा पवाड़ा का दिन बनाइए जा दिन झड़ी लगे दिन रात।

गांव के चौपाल में बैठकर अल्हैत जब ढोल की थाप पर वर्षा की झड़ी के साथ आल्ह की पंक्तियों की लड़ी पर सुनाने लगते हैं तो श्रोताओ को एक विचित्र आनंद मिलता है। आल्ह की पंक्तियों को सुनकर श्रोता झूम उठते हैं। मूंछो पर ताव देने लगते हैं, भुज दंड ढोंकने लगते हैं। वातावरण में पूरा वीर रस का संचार हो उठता है। कहते है कि आल्हा गायन से वर्षा होती है शायद इसी कारण वर्षा ऋतु में मेघों की गड़गड़ाहट के साथ अल्हैत की ढोल ढम ढमाने लगती है। वेसै बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, इलाहाबाद जिलो में विवाह के अवसर पर नट आकर आल्हा की पंक्तियों सुनाकर कुछ इनाम ले जाते हैं। इस क्षेत्र में नट ही वर्षाकाल में गांव–गांव में घूमकर आल्हा गाते हैं।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

आल्हा का लय और गायन शैली बिल्कुल निराली है। एक प्रकार से यह जवानों का काव्य है। इसके गायन मे बड़ी शक्ति लगती है और ढोल बजाने में तो और भी अधिक बुन्देलखण्ड कन्नौज बेसवाड़ा, अवधी, भोजपुरी आदि क्षेत्रों में आल्हा गायन का अपना–अपना ढंग है। अपने दस वर्ष के बुन्देलखण्ड प्रवास काल में मैने वहां के अल्हैतों से आल्हा सुना है, आल्हा की फड़बाजी भी देखा है जो कई रात चलती है। बुन्देलखण्ड में आल्हा गायन के लिए सारंगी, खड़ताल और मृदंग वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है। सांरगी का स्थान अब हारमोनियम ने ले लिया है। इस क्षेत्र के ग्रामीण तो ढोलक मजीरा का प्रयोग करते हैं उनका गायन परम्परागत वीर रस प्रधान होता है किन्तु नगरों में आल्हा को संगीतबद्ध ढंग से गाते है जिसमें साखियों का प्रयोग कथानक की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए किया जाता है। ये साखियां नीति–उपदेशपरक होती हैं। गायक साखों के द्वारा आल्हा गायन के समय का जिक्र करता है–

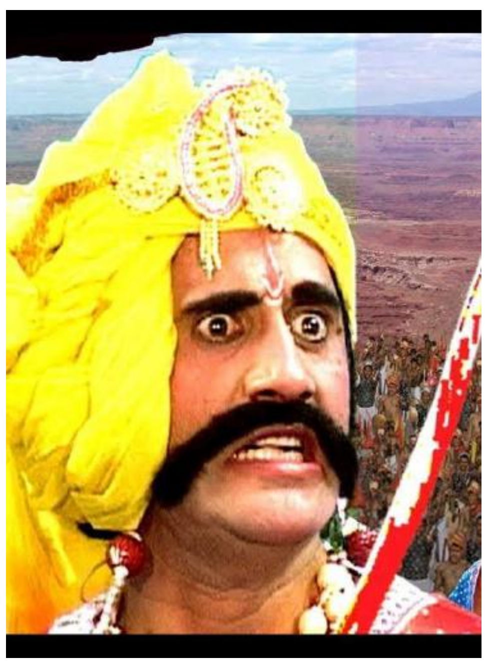

सावन सुहावनी रे मुरली लगे, भइया भादौं सुहावनी मोर।

तिरिया सुहावनी रे जबई लगे, ललना खेलै पोंर के ढोर।।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

एक साखी में वीरो की वीरोचित कार्य करने के लिए गायक उत्तेजित करता है–

सदा तुरैया न वन फूले, भादौं सदा न सावन होय।

सदा सूरमां ना रन पै चढ़, यारौ नौ दिन सदा न नावै कोय।

नौन हरामी दे चाकर परै, यारो मरै बैल गरयार,

चढ़ी अनी पै जो कोई बिचलै तोकी मरे गरमें से नार।

इसके पश्चात् ही आल्हा की कथा शुरू हो जाती है। ऐसी ही एक साखी और देखिये–

आजा भमानी रिंग लाजनी, परजन पर करिए सहाय।

आज मनालऊं धब जइझूम–पै, रच्छा करिये शारदा माय।

मरौ मल्हौदो सालै नहीं, ना सालैं सिरसिला गांव।

कलगी आंस रई मीय मलखान की, सिर पै दये है––चौड़िया राय।।

कन्नौज के आस–पास के क्षेत्र में आल्हा को पंवारे के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र के गायक के ऊपर गायकी निर्भर है। जितने गायक उतने ढंग आल्हा का प्रमुख तत्व गेयता है। उसेसमय स्वर और द्रुतगति लय मे गाया जाता है। टेक के सहारे गायक विराम लेता है– हिंअंन को बातें हिअनै छोड़ौ औ आने को सुनो हवाल। सर्वत्र एक ही छंद का प्रयोग, इस क्षेत्र के गायक करते हैं। भावानुसार गायक का स्वर करूण या ओजस्वी बनता रहता है। उदाहरण के लिए दो–चार पंक्तियां प्रस्तुत है–

ऊपर मुरदा नीचे मुरदा, मुरदे मुरदा रहे दिखाय।

भाला डारे हैं लोहू में, मानो नाग रहे मन्नाय।।

पगिया डारी है लोहुन में, मानौ कमल फूल उतराय।

ढालौ कछुआ सी उतरायें, मछरी जाती लगैं करार।।

सन्मुख सूर समर में जूझै, ताकौ इन्दर पुर लई जाय।

काहर जूझि गिरे धरनी में, जम के दूत पकरि ले जाय।।

अवध संभागः

अवध संभाग मे विशेषकर सुलतानपुर जिले में ठाकुरों, ब्राह्मणो द्वारा आल्हा गाया जाता है। आल्हा गायन के समय उनकी वेश–भूषा राजसी होती है और कमर में तलवार लटकती रहती है। जोश आनेपर म्यान से तलवार निकल पड़ती है। ढोल के स्थान पर नगाड़े का प्रयोग होता है। नगाड़ची न मिलने पर ढोलक से काम चल जाता है। कभी–कभी दो एक ढोलक फूट भी जाती हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार श्री त्रिलोचन शास्त्री जो इसी जनपद के हैं अच्छे ढंग से आल्हा गाकर सुनाते हैं। उन्हें बचपन से ही आल्हा गायन का शौक रहा है। अवध क्षेत्र में आल्हा बुन्देलखण्ड से भी अधिक लोकप्रिय है।

भोजपुरी क्षेत्रः

अवध क्षेत्र की ही भांति भोजपुरी अंचल में वर्षाकाल में आल्हा गायन होता है। अल्हैत ढोल पर गाते हुए अपने स्वर के आरोह–अवरोह के अनुसार उस पर चोट करते हैं। ढोलकिया और गायक एक ही व्यक्ति होता है। अन्य किसी वाद्य का प्रयोग नहीं होता। बड़ी द्रुतगति से आल्हा की पंक्तियां जोड़ देता है यह कार्य सभी गायक नहीं कर पाते।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

वैसवाड़ा क्षेत्रः

वैसवाड़ा क्षेत्र मे विशेषकर उन्नाव जनपद में आल्हा गायकी का खूब प्रचलन है। यहां भी वाद्य के लिए ढोल का ही प्रयोग होता है। अवध क्षेत्र का पूरा–पूरा प्रभाव वैसवाड़ा की आल्हा गायकी पर पड़ा है।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

संस्कार गीतों में निहित चरित्र निर्माण के सूत्र

ब्रह्मचर्य जीवनोपरान्त मानव गर्हस्थ जीवन में प्रवेश करता है । वहीं से उसके जीवन के संस्कार प्रारम्भ होते हैं । लोक जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्व है । समस्त वैवाहिक उपक्रम पुत्र–जन्म, मुण्ड़न, जनेऊ आदि संस्कारबद्ध है । इन संस्कारों पर जो कार्य–व्यापार होता है, उसे लोकगीतों में निबद्ध किया गया है जिसे स्त्रियाँ समवेत स्वर में बड़े ही चाव से गाती हैं । अज्ञात काल से चली आ रही यह परम्परा आज भी अक्षुण्य बनी हुई है । इन संस्कारों ने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है । इसी कारण सामान्य जन–जीवन में इनके प्रति अटूट लगाव है। समस्त संस्कारों का क्रमबद्ध परिचय संक्षेप में आगे दिया जा रहा है ।

तिलक –केसर, चन्दन, रोली आदि की गोल बिन्दी अथवा लम्बी रेखा के आकार का बनाया जाने वाला चिन्ह तिलक कहलाता है । यही तिलक जब भावी वर के मस्तक

पर लगाया जाता है तो वह चिन्ह विवाह– सम्बन्ध के स्थिर होने का सूचक होता है । इस अवसर पर कन्या–पक्ष की ओर से वर–पक्ष को कुछ धन, फल, मिठाई आदि दिया जाता है । इसके बाद कन्या–पक्ष द्वारा लाये गये धान में वर–पक्ष द्वारा अपना धान मिलाया जाता है और उसे बराबर–बराबर दोनों पक्षों में बाँट दिया जाता है । इस कार्य में परस्पर आदान–प्रदान की भावना निहित होती है । इसी धान के साथ वर–पक्ष पण्डित द्वारा लिखी लग्नपत्री एक पीले या लाल कपड़े में बाँधकर कन्या–पक्ष को देता है । तिलकोत्सव वर–पक्ष के यहाँ बड़े उल्लास के साथ सम्पन्न होता है । स्त्रियाँ ढोलक पर थाप देकर समवेत स्वर में समधी द्वारा लाई गयी वस्तुओं में कमियों की शिकायत करती हैं ।

सगुन–विवाह से पूर्व शुभ मुहूर्त में सगुन का कार्य प्रारम्भ होता है । पाँच सुहागिन स्त्रियाँ एक साथ बैठकर धान की पोटली को खोलती है और उसमें रखी हुई लग्नपत्री को पढकर लड़की या लड़के का नाम आदि जान लेती हैं । सगुन गीतों में माली से मौर–मउरी, दरजी से जामा–जोड़ा, कोइरिन से हरदी, बढ़ई से पीढ़ा, कोहार से कलश आदि लाने का आग्रह रहता है । ये कार्य – व्यापार इस बात को सूचित करते हैं कि समाज में पारस्परिक सहयोग की कितनी आवश्यकता है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

देवी गीत— हिन्दू धर्म में प्रत्येक शुभ कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व देवी—देवताओं की पूजा—आराधना करने की प्रथा है । इसके पीछे मुख्य भाव यही है कि कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो। विवाह गीत प्रारम्भ करने से पूर्व पाँच देवी गीत गाये जाते हैं । इन गीतों में देवी की महिमा का उल्लेख और रक्षात्मक भाव सन्निहित रहता है ।

हुड़का

मंगल— मंगल का अर्थ होता है — कल्याणकारक, सुख—सौभाग्य देने वाला । इसी कारण विवाह आदि शुभ अवसरों पर मंगल गीत के साथ कार्यारम्भ होता है । भोजपुरी क्षेत्र में देवी गीत के पश्चात् मंगल गीत गाये जाने की प्रथा है । इन गीतों में शिव, राम और कृष्ण के विवाह का वर्णन रहता है । दो या पाँच मंगल गीत गाने के बाद सामान्य जन—जीवन से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं ।

विवाह— हिन्दु धर्म के सोलह संस्कारों में विवाह सबसे महत्वपूर्ण संस्कार है जिसमें वर और कन्या पति पत्नी धर्म को स्वीकार करते है । इस अवसर पर गाये जाने वाने गीत को विवाह गीत कहते हैं । इन गीतों का वर्ण्य—विषय रामविवाह, कृष्ण विवाह, शिव विवाह, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा, बाल विवाह आदि होता है । इन गीतों मे

श्रृंगार रस का बड़ा ही सुन्दर परिपाक रहता है । कहीं कहीं कन्या पक्ष द्वारा गाये गीत करूण रस में भी डूबे रहते है । हास और उल्लास का तो यह अवसर होता ही है ।

सुहाग– सुहाग शब्द सौभाग्य का अपभ्रंश है । हमारे संस्कार गीतों में जहाँ बन्ना, ब्याह, हरदी, उबटन, गवना, विदाई तथा अन्य अनेक संस्कारों से जुड़े गीत मिलते हैं वही सुहाग के गीत भी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं । सुहाग के गीत केवल अवधी और भोजपुरी क्षेत्रों में ही नही वरन् दूसरी बोलियों के क्षेत्रों तथा प्रायः हर जातियों में मिलते हैं । रूप और शब्द भिन्न होते हुए भी भाव सबके एक ही हैं । अवधी क्षेत्र में धोबिन से सुहाग लेने की परम्परा आज भी है । यह पराम्परा कब प्रारम्भ हुई यह बताना तो कठिन है लेकिन ऐसी सामाजिक मान्यता है कि गाँव की धोबिन का दिया हुआ सुहाग अचल और अखण्ड सुहाग का प्रतीक है। कहीं कहीं यह परम्परा घर

परिवार की बड़ी सधवा स्त्रियों द्वारा किये गये मांगलिक आर्शीवचन और सिन्दूर से जुड़ी है ।

जोग– जोग शब्द का अर्थ है जादू, चमत्कार । जोग गीतों का मुख्य वर्ण्य–विषय जादू, टोना, टोटका से सम्बन्धित रहता है । कहीं पर कन्या सास और पति को वश में करने के लिए जोग सीखती है तो कहीं सास और पति कन्या को वश में करने के लिए । कहीं पर सास दामाद को भेड़ा, बकरा बनाती है तो कहीं कन्या पश्चाताप करती हुई कहती है कि पति के घर जाने का समय आ गया, लेकिन मैंने जोग तो सीखा ही नहीं ।

बन्ना–बन्नी– सुहाग और जोग के समान ही बन्ना–बन्नी भी एक प्रकार का गीत है । इस प्रकार के गीतों में कन्या की भूमिका का वर्णन प्रमुख होता है । इसमें कन्या वर से अनेक प्रकार का आग्रह अनुग्रह करती है । यह गीत विवाह के अवसर का सुहाग गीत के बाद गाया जाता है । अवधी क्षेत्र में इसका अधिक प्रचलन है ।

ब्याह सहाना – यह गीत भी विवाह के अवसर पर गाया जाता है । इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है ।

आशीश – आशीशगीत दो प्रकार के होते है और दो अवसरों पर गाये जाते हैं – पुत्र जन्म और विवाह । विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले आशीशगीतों में कन्या के

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

सुहाग से सम्बन्धित उपकरणों का नाम लेकर आशीर्वचन दिये जाते है । दूसरा अवसर पुत्र जन्म का होता है, जब मंगल गान करने आई स्त्रियाँ नवजात शिशु को दीर्घायु होने का आशीर्वचन देती है ।

उठान – अनेक प्रकार के विवाह गीत गाने के बाद स्त्रियाँ विषय परिवर्तित करती हैं और उठान गाकर अपने अपने घर को विदा होती हैं । उठान (उत्थान) गीतों में विविधता होती है । प्रारम्भिक गीत का वर्ण्य विषय प्रायः श्रृंगारिक होता है और अन्त में शान्त रस के गीतों के साथ उसकी परिसमाप्ति कर दी जाती है ।

गारी – विवाह, सुहाग, जोग, बन्ना–बन्नी, उठान गाने के बाद स्त्रियाँ वर या कन्या की माँ को गारी गाती हैं जिसका विषय उचित सम्मान न मिलने का होता है । गारी गाती हुई स्त्रियाँ धीरे –धीरे अपने घर को प्रस्थान करती हैं ।

नेवता के गीत – विवाह के अवसर पर सगे सम्बन्धियों को निमंत्रित किया जाता है । जिसकी अभिव्यक्ति नेवता के गीतों में होती है । किसके पास निमंत्रण भेजना है, नहीं भेजना है और किसके द्वारा निमंत्रण भेजा जा रहा है , इन सब बातों की अभिव्यक्ति नेवता के गीतों मे होती है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

मटमगरा, तेल मायन – हल्दी के दिन पूरे गाँव में घर घर निमंत्रण जाता है और उस दिन जितनी सुहागिन स्त्रियाँ आँगन में एकत्रित होती हैं, उनके सिर में तेल लगाकर माँग को सिन्दूर से सजाया जाता है । इस कार्य व्यापार को मटमगरा, तेल मायन आदि नामों की संज्ञा दी जाती है ।

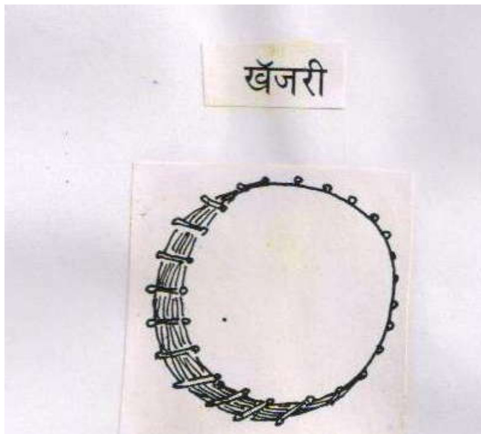

मानर पूजन– मानर ढोल जैसा वाद्य यन्त्र है । हल्दी के दिन से विवाह तक मानर प्रति दिन बजता रहता है । हल्दी के दिन हल्दी, तेल, सिन्दूर से उसकी पूजा होती है । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों मानर की सुहावनी ध्वनि तथा उसके निर्माण आदि से सम्बद्ध भावों की अभिव्यक्ति रहती है।

माँड़ों के गीत – हल्दी के दिन ही मण्ड़प बनाने का कार्य प्रारम्भ होता है। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत ही माँड़ो–गीत कहलाते हैं । इन गीतों में मण्ड़प का सौन्दर्य तथा बनाने वालों की कलात्मकता का निरूपण रहता है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

कलशा के गीत – हल्दी के दि नही मण्डप के नीचे कलशा रखा जाता है । इस कलश को बुआ अथवा सुहागिन ब्राह्मणी स्त्रियाँ गोबर तथा सिन्दूर से सजाती हैं । तत्पश्चात उसमें अक्षत, सुपारी, पैसा डालकर जल से पूरित कर उसके मुख पर जौ से भरा कसोरा, पुरवा रखकर घी या तेल का दीपक जलाकर मण्डम के नीचे रख दिया जाता है । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत कलशा गीत कहे जाते हैं ।

चाकी पूजन – हल्दी के दिन मण्डप के नीचे चाकी भी रखी जाती है और उसकी पूजा की जाती है । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में चाकी के जन्मस्थान और उसकी उपयोगिता का उल्लेख रहता है ।

ओखली पूजन – चाकी से दली गई दाल को पाँच सधवा स्त्रियाँ ओखली में कूटती हैं और गीतों के माध्यम से औखली–मूसल के कार्य व्यापार को श्रृंगारिक परिवेश में निरूपित करती हैं।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

हल्दी उबटन – वर या कन्या को पण्डित द्वारा पाँच बार कुशा सें हल्दी छुवाने के बाद स्त्रियाँ वर–कन्या के पूरे शरीर में उबटन और हल्दी लगाती हैं । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में हल्दी के गुणों का वर्णन तथा उसके उत्पत्ति का संकेत रहता है ।

चुमावन – हल्दी लगाने के बाद स्त्रियाँ वर–कन्या की हथेली में गुड़, चावल तथा चाँदी रखकर उन्हें चूमती है और उनके दीर्घायु होने, सौभाग्यवती रहने की कामना करती हैं ।

कोहबर लिखते समय के गीत – भवन के किसी कक्ष में कोहबर के लिए स्थान निश्चित कर दिया जाता है जो वर या वधु के लिए सुरक्षित रहता है । उस स्थान को स्त्रियाँ बड़े मनोयोग से सजाती हैं । कोहबर की सजावट के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में संयोग–श्रृंगार की प्रधानता रहती है । इन गीतों में कहीं–कहीं अश्लीलता का भी समावेश हो गया है ।

साँझी – सधवा ब्राह्मणी स्त्रियाँ संध्या के समय मण्डप में बैठकर गीतों के माध्यम से सन्धया (लक्ष्मी) का इस हेतु आह्वान करती हैं कि वर, वधु के घर आकर निवास करें ।

पराती – साँझी गीत के समान ही पराती (प्राती) में भी प्रातःकालीन आह्वान का भाव निहित रहता है । इस प्रकार के गीत में गंगा, लक्ष्मी, गणेश आदि को आमंत्रित किया जाता है। पराती गीत सूर्योदय होने से पूर्व गाये जाते हैं ।

सील पोहना – लड़की के यहाँ विवाह के दिन और लड़के के यहाँ एक दिन पूर्व सील पोहने का कार्यक्रम होता है । दो सधवा स्त्रियाँ (देवरानी जेठानी) सील के दोनों किनारे पर बैठ जाती हैं, नये वस्त्र से दोनों स्त्रियों के सिर को ढँक दिया जाता है, वे उसी के अन्दर दाल पीसती और परस्पर एक दूसरे को गाली गाती है । कहीं कहीं पर इस कार्य को पति पत्नी भी सम्पन्न करते हैं ।

मातृपूजन–पितृपूजन – मातृपूजा या पितृपूजा भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न ढंग से होती है । कहीं पर विधवा स्त्रियाँ पित्रों को निमंत्रित करती हैं, कहीं पर सधवा और कहीं पर पति पत्नी दोनों कोहबर में या मण्डप में बैठकर इस कार्य को सम्पन्न करते हैं ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

पोखरा खोदाई – पोखरा खोदने का कार्य मुख्य रूप से बुआ करती हैं और उसका नेग लेती हैं। आँगन में बुआ फावड़ा या कुदाल से पाँच बार मारकर शुभ करती हैं । उसी के ऊपर हरीश रखकर वर या कन्या को नहलाया जाता है । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में नेग की ही चर्चा रहती है ।

नहछुवा – स्नान करने के पश्चात माँ पुत्र के सिर पर कुसुम लोढ़ती है । उसके बाद कंगन बँधे लोटे से वर के सिर पर पानी गिराया जाता है । कहारिन सिर से गिरते हुए पानी को नये घड़े में एकत्र करती है, वही पानी कन्या के घर जाता है जिससे कन्या को स्नान कराया जाता है । इस पानी को वर का पानी कहते है । नहछुवा गीता में वात्सल्य की झलक मिलती है।

चऊक (चौक) के गीत – नहछू के बाद माँ पुत्र या पुत्री को लेकर चौक पर बैठती है। उस समय गाये जाने वाले गीत को चउक का गीत कहते हैं ।

इमली घोटाई – इमिली घोटाई का कार्यक्रम वर–कन्या दोनों पक्षों में होता है । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में बहन द्वारा भाई से नेग माँगने की बात मुख्य रूप से रहती है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

मोर बाँधते समय के गीत – पूर्वांचल में जीजा या फूफा वर को मौर बाँधते हैं । स्त्रियाँ माँ, बुआ, बहन और भाभी गाली गाती हैं तथा मौर के सौन्दर्य का वर्णन करती हैं । इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में श्रृंगार रस का मिश्रण होता है।

वस्त्र धारण करते समय के गीत – बारात जाते समय जब वर जामा–जोड़ा पहनता है, उस समय के गीतों में श्रृंगार और हास्य रस की प्रधानता होती है।

परिछन– वस्त धारण करने के पश्चात परिछन एक बार आँगन में और दूसरी बार गाँव के बाहर किसी देवस्थान पर माँ, बुआ, भाभी, बहन आदि करती हैं । परिछन गीतों में माँ, बहन आदि के आह्लाद का भाव प्रकट होता है।

बारात जाते समय माँ द्वारा दूध का मोल माँगना – विधि का कैसा विधान है कि एक ओर तो प्रसन्नता से माँ का पैर जमीन पर नहीं पड़ता और दूसरी ओर वह सोचकर दुखित होती है कि मेरा पुत्र अब पराया होने जा रहा है । अपने दूध का मूल्य माँगती है । पुत्र उत्तर देता है कि माँ का दूध तो अमूल्य होता है जिसका मूल्य चुकाया नहीं जा सकता । अतः उसके बदले में मै और मेरी पत्नी आजीवन आपके चरणों की सेवा करेंगें।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

बारात–गमन – जब वर घर से बाहर किसी देवस्थान पर परिछन और दर्शन के लिये जाने हेतु प्रस्थान करता है तो स्त्रियाँ भी साथ साथ गाती हुई चलती हैं । उस समय के गीतों में प्रश्नोत्तर का विधान किया गया है। पूर्वजों का नाम लेकर प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है।

द्वारपूजा– जब बारात कन्या के द्वार पर पहुँचती है, उस समय सर्व प्रथम द्वार–पूजन का कार्य सम्पन्न कराया जाता है । उस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों के वर्ण्य–विषय में कन्या के पिता तथा बारात की दयनीय स्थिति का उल्लेख रहता है।

लावा–भुंजाई – लावा भुंजाई का कार्यक्रम दोनों पक्षों में एक ही प्रकार से होता है और एक ही प्रकार के गीत भी गाये जाते हैं । इन गीतों में श्रृंगार की प्रधानता होती है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

डाल चढ़ते समय के गीत – वर के आगमन से पूर्व आंगन में चढ़ाव का सामान आता है । स्त्रियाँ समधी को गाली गाकर आये हुए आभूषणों और वस्त्रों पर अनेक व्यंग्य करती है । इस समय गाये जाने वाले गीतों में प्रायः व्यंग्य ही रहता है ।

बरात के आगन में आने पर गाये जाने वाले गीत – आँगन में बारात आने पर गाली द्वारा बारातियों का स्वागत किया जाता है, उसके बाद कन्या को आँगन में लाने का निवेदन । कन्या को लाने से सम्बद्ध गीतों में करूणा टपकती है ।

ताकपाट या तागपाट – जेठ द्वारा कन्या को ताक–पाट (धागा वस्त्र) पहनाया जाता है। सर्व प्रथम तो स्त्रियाँ जेठ द्वारा कन्या को छूने पर गाली गाती हैं, फिर गीत द्वारा ही यह बताया जाता है कि आज के बाद पुनः कन्या को मत छूना ।

धोती बदलना – कन्यादान से पूर्व वर को मण्डप में ही पियरी (पीली धोती) पहनायी जाती है । इस अवसर के गीतों मे बर को मूर्ख सिद्ध करके कन्या के भाई से धोती पहनाने का आग्रह किया जाता है ।

कन्यादान के समय भाई द्वारा धान गिराते समय के गीत –इस समय गाये जाने वाले गीतों में स्त्रियाँ भाई से निवेदन करती हैं कि धार टुटने न पाये, नही ंतो बड़ा अपमान होगा और तुम बहन को हार जाओगे ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

कन्यादान के गीत – यह ऐसा अवसर होता है कि जब पिता जन्म से पाली गयी प्राणों से प्रिय पुत्री को दान करता है । पिता की कारूणिक मनःस्थिति का इन गीतों में चित्रांकन होता है जिसे सूनकर पाषाण हृदय भी द्रवित हो उठता है ।

पाँव पूजन के गीत – कन्यादान के पश्चात पिता वर का पाँव पूजता है, साथ ही वर के पाँव को धोकर आचमन करता और मस्तक पर लगाता है । इसी कार्य व्यापार का अंकन इस अवसर के गीतों में होता है ।

भाँवर गे गीत – पाँव पूजन के पश्चात भाँवर का कार्य सम्पन्न किया जाता है । भाँवर में कन्या अपने प्रियजनों से निवेदन करती है कि अभी सात फेरे नहीं हुए हैं, हमें आप लोग पराया होने से बचा लें ।

सिन्दूर के समय विलम्ब होने पर पण्डित को गारी – सिन्दूर दान में विलम्ब होने पर स्त्रियाँ पण्डितों को गारी गाती हैं तथा गीत के ही माध्यम से वह संकेत करती हैं कि कन्या अत्यन्त सुकुमारी है, कार्य को यथाशीघ्र सम्पन्न करायें ।

सिन्दूर बहोरवा – पूर्वांचल में नाइन बुआ, बहिन, भाभी में से कोई भी सधवा स्त्री सिन्दूरदान के बाद पुनः कन्या के माँग को सिन्दूर से सजाती है ।

लावा मिलाई – इस अवसर पर कन्या को वर के अग्र भाग में खड़ा किया जाता है और भाई द्वारा दोने पक्षों का लावा मिलवाया जाता है । इस अवसर के गीतों में यह संकेत रहता है कि कन्या वर वक्ष की हो गई ।

परिछन कन्या के घर – कन्या के घर वर का परिछन किया जाता है तो उसमे कन्या की माँ की ही भूमिका होती है । इस समय गाये जाने वाले परिछन गीतों मे वात्सल्य और हास्य रस की प्रधानता होती है । सास, सरहज, साली मिलकर वर का परिछन करती हैं ।

कोहबर में जाते समय के गीत – परिछन के बाद वर कन्या कोहबर में लाये जाते हैं । इस समय के गीत श्रृंगारिक भावना से अभिप्ररित होते हैं ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

सरहज द्वारा द्वार छेकना – जब शादी के बाद वर कन्या कोहबर में जाने लगते हैं उस समय सरहज (साले की पत्नी) द्वार छेंककर खड़ी हो जाती है और दरवाजे पर लिखे कोहबर को पढ़ने के लिए कहती है तथा अपना नेग माँगती है । इस समय के गीत हास्य रस से सराबोर होते है ।

कोहबर में जाने के बाद का गीत – कोहबर में प्रविष्ट होने पर जो गीत गाये जाते है उनका वर्ण्य विषय संभोग श्रृंगार होता है ।

बाती मिलाई के गीत – कोहबर मे सरहज वर से एक दीवट (दीपक) में दो वर्तिका डालकर उसे जला देती है और दोनों को एक में मिलाने के लिए कहती है । इस अवसर के गीत श्रृंगारिक होते हैं ।

लोढ़ा पूजन – कोहबर में सरहज लोढ़ा रखकर वर से कहती है कि ये हमारे कुल देवता हैं, इन पर माथा टेकिए । हँसी मजाक के इस कार्यक्रम का उद्देश्य वर के विवके का पता लगाना और संकोच का निवारण करना मात्र होता है ।

जेवनार – भोजपुरी क्षेत्र में लड़के के पिता को भात खिलाते समय जेवनार गीत गाये जाते है । जेवनार गीतों के माध्यम से लड़के के पिता तथा उनके अन्य सगे–सम्बन्धियों का स्वागत किया जाता है । जेवनार गीत प्रायः अश्लील और श्रृंगार प्रधान होते है ।

नकटा – इसे कहीं नकटा तो कहीं डोमकच कहते हैं । ये गीत केवल लड़के के यहाँ विवाह के दिन गाये जाते हैं । ये गीत इतने अश्लीत होते है कि इनका संग्रह तथा प्रस्तुति करण कठिन है ।

विदाई – विदाई गीतों में करूण रस की प्रधानता होती है । ये गीत लड़की की विदाई के अवसर पर गाये जाते हैं ।

दुलहिन उतारते समय – लड़के के यहाँ बहू को उतारते समय जो गीत गाये जाते हैं, वे माँगलिक होते है ।

सिन्दूर बहोरवा – ज्यों ही बहू की सवारी दरवाजे पर पहुँचती है, सास बहू की माँग को सिन्दूर से सजाती है तथा सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद पुनः देती है ।

परिछन– बारात लौटने पर माँ पुनः बहू बेटे का परिछन करती हुई अपना आह्लाद प्रकट करती है ।

कक्कन छोड़ते समय या जुआ खेलते समय के गीत – हल्दी के दिन जो धागा वर कन्या के हाथ में तथा मण्डप, ओखली, चाकी, सील, कलशा आदि में बाँधा जाता है, उसको बारात लौटने पर किसी शुभ मुहूर्त में देव स्थान पर तोड़ दिया जाता है । उस समय के गीत देवी देवताओं से सम्बद्ध होते हैं ।

दरवाजे का पूजन – कंगन छोड़वाकर जब स्त्रियाँ घर लौटती हैं, उस समय द्वार की पूजाकर तब गृह में प्रविष्ट होती हैं । इस पूजन गीत में सभी पूर्वजों के नाम का उल्लेख रहता है ।

गवना – पूर्वांचल में विवाह के एक, तीन या पाँच वर्ष बाद गवना करने की प्रथा है । उस समय भी विवाह के समान गवना के कुछ दिन पूर्व लग्न से ही गीतों का गायन प्रारम्भ होता है । गवना के गीतों में करूण रस की भूमिका प्रमुख होती है ।

दोहद – दोहद गीतों में पुत्र जन्म की पूर्व पीठिका का वर्णन रहता है । गर्भवती स्त्री की अनेक प्रकार के पदार्थों को खाने की इच्छा, उसके शरीर के पीलापड़ने, होठों के सूखने आदि का उल्लेख दोहद गीतों में होता हे । पुत्र रत्न की कामना, पुत्र होने पर ननद द्वारा भाभी से नेग का पूर्व निश्चय आदि भी इन गीतों के वर्ण्य विषय हैं । इसका प्रचलन सर्वत्र एक जैसा नहीं है ।

थाली बजाने के गीत – पुत्र जन्म पर बुआ द्वारा थाली बजाई जाती है जिसका नेग बुआ को मिलता है । उस समय के गीतों में नेग की ही चर्चा रहती है ।

सोहर – सोहर पुत्र जन्म पर गाया जाने वाला एक प्रकार का गीत है । पुत्र जन्म पर गाँव की स्त्रियों को निमंत्रित किया जाता है और वे आँगन में एकत्र होकर सोहर गाती हैं । सर्वप्रथम राम और कृष्ण के जन्म से सम्बद्ध सोहर गाया जाता है , उसके बाद सामान्य जन जीवन से सम्बद्ध सोहर का गायन होता है । सोहर गीतों में श्रृंगार, हास्य और करूणा रस का बड़ा ही सरस मनमोहक परिपाक होता है । इन गीतों में जच्चा की प्रसव पीड़ा और मनोदशा को चित्रित किया जाता है ।

खेलवना – खेलवना गीतों का सम्बध जन्मोत्सव से होता है । इनमें पुत्र जन्म से सम्बद्ध पूर्व एवं उत्तर पीठिका, निःसन्तान स्त्री की दशा, पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की मनौतियाँ, गर्भवती की इच्छाएँ, प्रसव पीड़ा, घगरिन का प्रवेश, सास की प्रसन्नता, ननद द्वारा नेग माँगना, सुन्दर शिशु की कामना आदि का वर्णन होता है ।

लोचना भेजने के गीत – लोचना, सन्देश या निमंत्रण भेजने को कहते हैं । लोचना शब्द रोचना का अपभ्रंश है । जब कन्या को पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है तो नाऊ के द्वारा उसके मायके संदेश भेजा जाता है । लोचनागीत में आमन्त्रण का भाव निहित रहता है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

छठी– पुत्र जन्म के छठे दिन छठी का विधान किया जाता है । छठी गीतों में पूर्वजों को आमत्रित किया जाता है ।

बरही के गीत – बरही का कार्यक्रम पुत्र जन्म के नवें अथवा बारहवें दिन किया जाता है । उस समय गाये जाने वाले गीतों मे आनन्दोल्लास तथा विशिष्ट प्रकार के भोज्य पदार्थो की चर्चा रहती है ।

बधावा के गीत – पुत्र जन्म पर जच्चा के पास ननद बधावा लेकर आती है जिसे भोजपुरी क्षेत्रों में विअउआ भी कहते हैं । बधावा गीतों में नेग एवं बुआ द्वारा लाये गये जच्चा बच्चा के सामानों की चर्चा रहती है ।

अन्न प्राशन – बच्चा जब पाँच या छः महीने का हो जाता है तब उसे प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है । इसे अन्नप्राशन कहते है । बच्चे को प्रथम बार चाँदी के चम्मच या चाँदी के रूपये से अन्न खिलाया जाता है ।

मुण्डन – मुण्डन का विधान जन्म के एक, तीन, पाँच, सात, नौवें वर्ष में किया जाता है। मुण्डन गीतों में बच्चे के लिए मंगल कामना तथा बुआ के नेग का वर्णन रहता है ।

लापर रोपने के गीत – मुण्डन किये गये बालों को बुआ अपने आँचल में लेती है जिसका उसे नेग मिलता है । लापर गीतों मे बच्चे द्वारा बाबा तथा पिता से बुआ को बुलाने का अनुरोध तथा नेग की चर्चा रहती है ।

जनेऊ – जनेऊ का पूर्वांचल में अत्यधिक महत्व है । यह संस्कार पूर्ण रूप से विवाह की भाँति सम्पन्न होता है । जनेऊ संस्कार के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में हल्दी, साँझी, पराती, मुण्डन, नहछू, मातृपूजा, बेदोच्चार, भिक्षा माँगना, काशी जाने की तैयारी, समावर्तन और कक्कन छोड़ाने जैसे लोकाचार सम्पन्न होते हैं ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

पूर्वाचल के श्रम लोकगीत में निहित समाजिकता के सूत्र

खेत से लेकर खलिहान तक, चूल्हा – चक्की से लेकर हाट तक, यहाँ तक कि जन्म से लेकर मृत्यु तक की सम्पूर्ण जीवन – यात्रा की कथा का सहज, सरस लोकार्पण लोक साहित्य में मिलता है । वस्तुतः लोक साहित्य लोक–मानस का ऐसा दर्पण है जिसमें लोक जीवन का समग्र चित्र गतिज अवस्था में प्रतिबिम्बित होता है । यह एक ऐसा आइना है जिसमें देश का भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों ही एक साथ देखा तथा परखा जा सकता है । लोकमानस देश का सच्चा प्रहरी है जो ऐतिहासिक झंझावातों के बीच भाषा और संस्कृति की रक्षा करता है ।

श्रम और जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है । श्रम, जीवन–यात्रा का सम्बल है । श्रम के बिना जीवन और जीवन के बिना श्रम की कल्पना नहीं की जा सकती । श्रम मानव–जीवन का मूल आधार है और संस्कृति उसकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि । इसके बीच का जीवन–काल इन्द्रधनुषी है जिसमें मानव–जीवन की आशाएँ, आकांक्षाऐं अंकित है ।

वेद के मंत्र – 'श्रमेण तपसा स्रष्टा', उपनिषद के संदेश –'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत् समाः' तथा गीता के उपदेश–'कर्मयोगो विशिष्यते' में श्रम की महत्ता का प्रेरक प्रतिपादन किया गया है । रामचरित मानस की उक्ति ''सकल पदारथ एहि जग माहीं, करम हीन नर पावत नाहीं'' में भी कर्मयोग को समस्त योगों से श्रेष्ठ माना गया है । आज भी मानव जीवन, समाज और राष्ट्र की सुखसमृद्धि का मूल आधार श्रम ही है । 'लोक वेदे च' भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है । श्रम की श्रेष्ठता को वेद और लोक दोनों में समान रूप से स्वीकारा गया है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

सैद्धान्तिक रूप से श्रम के पीछे तीन शक्तियाँ काम करती हैं– ''प्रेरक, पूरक और आहारक । श्रम और श्रमगीतों के परिप्रक्ष्य में जब हम इन शक्तियों की भूमिका का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि प्रेरक और आहारक शक्तियाँ श्रम को क्रियाशील बनाती हैं और पूरक शक्ति श्रमगीतों की रचनाधर्मिता को आन्दोलित करती है ।

अभिव्यक्ति, अनुभूति का प्रकट रूप है । गीति–रचना में अनुभूतियाँ ही शब्दरूप पाती है। श्रमगीतों में श्रम को शब्द–रूप नहीं मिला है वरन् भोगे जा रहे जीवन की खट्टी मीठी अनुभूतियाँ ही संवेदनाओं से ओतप्रोत होकर गीतों में ढली है। यही कारण है कि श्रमगीतों के वर्ण्य–विषय श्रम से इतर हैं और जीवनगत अनुभूतियों की गहराई में डूबे हुए है । इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है । जब शारिरिक श्रम किया जाता है तो प्रत्यक्ष रूप में स्थूल शरीर पर पीड़ा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, लेकिन पीड़ा की अनुभूति स्थूल शरीर को न होकर मन को होती है । सुख और दुख वाह्य न होकर अन्तर की भावनाएँ है । यदि थोड़ी देर के लिए शारीरिक श्रम के बीच स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर (मन) का सम्बन्ध विच्क्षेद कर दिया जाय तो पीड़ा की अनुभूति स्वतः लुप्त हो जाती है । श्रमगीतों के माध्यम से श्रमकर्ता पीड़ा के परिहार का उपक्रम करता है । मन को श्रमजन्य पीड़ा से मुक्त रखने के लिए ही लोकगीतों के रचनाकारों ने श्रमगीतों का वर्ण्यविषय श्रम से पृथक रखा है । श्रमगीतों में हमें श्रृंगार और करूणा की अजस्र धारा बहती दिखाई देती है और उसके प्रवाह में श्रमजन्य पीड़ा का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है ।

आदिम युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं और वह उसकी पूर्ति एकमात्र स्वयं के ही श्रम से कर लेता था । पाषाण युग तक प्रायः यही स्थिति बनी रही । सभ्यता के विकास के साथ–साथ आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और उनमें विविधता आ गई । फलस्वरूप किसी एक व्यक्ति के लिए समस्त आवश्यकतों की पूर्ति उपने स्वयं के श्रम द्वारा करना असंभव हो गया । ऐसी दशा मे श्रम विभाजन अनिवार्य आवश्यकता के रूप में उभरकर आया । सामाजिक आवश्यकताओं में आई

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

विविधता ने श्रम–विभाजन और कालान्तर में वर्ग और वर्ण को जन्म दिया । प्रारम्भ में कर्म के अनुसार वर्ण का निर्धारण हुआ, लेकिन बाद में वर्ण रूढ़ होकर कर्म का पर्याय बन गया । यही कारण है कि जँतसार (हरवर्ण की महिलाओं से सम्बद्ध) को छोड़कर प्रायः अन्य सभी प्रकार के श्रम गीत शूद्रों से सम्बद्ध हैं ।

श्रमगीत वे गीत हैं जो श्रम करते समय समवेत स्वर में गाए जाते हैं । मन का श्रम से सामंजस्य स्थापित करने के ये बेजोड़ साधन हैं । इस प्रकार के गीतों में जँतसार, रोपनी, सोहनी तथा श्रम से जुड़े जातिगत गीत प्रमुख हैं ।

भोजपुरी क्षेत्र श्रम–प्रधान क्षेत्र है जिसमें हर जाति के लोग, एक साथ निवास करते हैं। यहाँ के गाँवों में परम्पराएँ और प्राचीन भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है, कारण इसकी जड़ें अतीत की गहराइयों में धँसी हैं । भोजपुरी क्षेत्र में श्रम–साधना से जुड़े लोकगीतों का विविध रूप दिखाई देता है । इन गीतों में नारी जीवन की श्रम चर्या से सम्बद्ध मार्मिक चित्र अनेक रंगों में उभरे हैं । पुरूशप्रधान श्रमगीत प्रायः जातिगत हैं ।

भोजपुरी श्रमगीत कई अवसरों पर गाए जाते है, जिसमें जाँत चलाने, रोपनी–सोहनी–कटनी करने आदि के अवसर प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त श्रम करके जीविकोपार्जन करने वाली कई हिन्दू जातियाँ जैसे धोबी, कहार, मुसहर आदि भी श्रम–सम्पादन के समय अपने विशेश्लयताल में श्रमगीत गाते रहते हैं । विभिन्न प्रकार के श्रमगीतों का सक्षिप्त परिचय निम्नवत है :–

जँतसार – जाँत पीसते समय गाए जाने वाले गीतों को जँतसार कहते हैं । रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब परिवार के अन्य सदस्य प्रगाढ़ निद्रा में डूबे रहते हैं, ग्राम – बधुएँ अपने–अपने घरों में जाँत पीसते हुए समवेत स्वर में मधुर गीतों से वातावरण में रस का संचार करती हैं । पहले यह कार्य–व्यापार प्रत्येक ग्रामीण परिवार में प्रायः प्रतिदिन होता था, लेकिन यांत्रिकीकरण के प्रभाव से वर्तमान समय में यह उपक्रम

यत्र–तत्र ही देखने को मिलता है । जँतसार में श्रम, शिल्प और संगीत का अद्‌भुत संगम है । प्रभात की नीरवता में नारी–कंठ से उठती स्वर लहरी मन को मुग्ध कर देती है ।

जँतसार गीतों में श्रृंगार और करूणा की प्रधानता होती है । प्रेम, विरह, मानसिक तथा शारिरिक पीड़ा, पारिवारिक संघर्ष, ईर्ष्या–द्वेश्आदि इन गीतों के मुख्य वर्ण्य–विषय हैं । शारीरिक शैथिल्य एवं मानसिक विक्षोभ का निवारण ही इन गीतों का अभिप्रेत है । जाँत के गीत वस्तुतः नारी के करूणा–कलित हृदय की संवेदनात्मक मनः स्थिति की उपज है ।

रोपनी के गीत– धान को खेत में रोपते समय स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उसे रोपनी का गीत कहा जाता है । प्रायः हरिजन और मुसहर जाति की स्त्रियाँ ही रोपनी का कर्म करती हैं। इन गीतों में ग्रहस्त जीवन का सजीव चित्रण मिलता है । रोपनी का कार्य बड़ा ही श्रम साध्य है । श्रमशीला पत्नी का पति के प्रति व्यंजित उपालंभ तथा पारस्परिक प्रेम की झलक रोपनी के गीतों में देखने को मिलती है।

सोहनी के गीत– धान के खेत में अनावश्यक रूप से उगी हुई पौध को निकालकर अलग करने का कार्य सोहनी कहलाता है । सोहनी के कार्य का सम्पादन करते समय स्त्रियाँ समवेत स्वर में जो गीत गाती हैं, उसे सोहनी का गीत कहा जाता है । इसका वर्ण्य–विषय रोपनी के ही समान श्रृंगार और करूणा से ओत–प्रोत रहता है ।

कटनी के गीत – फसल काटते समय जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें कटनी का गीत कहा जाता है । ये गीत बहुत की कम मिलते हैं । कटनी के गीतों में उमंग और उल्लास छनका पड़ता है ।

ऊख (गन्ना) बोते समय के गीत –स्त्रियों द्वारा गन्ना बोते समय यह गीत गाया जाता है । स्त्रियों द्वारा गन्ना बोने की परम्परा गोरखपुर मण्ड़ल में ही पायी जाती है । इन गीतों में भी उमंग और उल्लास की ही अभिव्यक्ति होती है ।

भेड़ चराते समय के गीत – गाँवों में गड़ेरिया जाति के लोग भेड़ चराने का कार्य करते हैं । ये लोग गाँव से दूर के चारागाहों पर अकेले अथवा साथियों के साथ भेड़ चराते हैं और अपने एकाकी पन को दूर करने के लिए लोकगीतों की धुन छेड़ते हैं । इन गीतों में निर्गुन, देश प्रेम एवं सामाजिक जीवन की विसंगतियों से जुड़े गीतों की प्रमुखता होती है ।

कोल्हू चलाते समय के गीत – पहले गाँवों में तेल निकालने का कार्य तेली जाति के लोग करते थे । वे भोर में उठकर अपने कोल्हुओं में बने स्थान पर बैठ कर तेल पेरने का कार्य करते थे । उस समय अपने मन की थकान को दूर करने के लिए ये लोग गीत भी गाते थे । इनके गीतों में भक्ति और श्रृंगार की प्रधानता है ।

चाक चलाते समय के गीत – गाँवों में मिट्टी के बर्तन बनाते समय कुम्हार जाति के लोग लोकगीत गुनगुनाया करते हैं । इनके गीतों में प्रायः भक्ति का पुट रहता है।

कहरवा– कहरवा, कहार जाति का लोकगीत है । इनके यहाँ जब शादी, पुत्र जन्म या कोई विशेषपर्व का अवसर आता है तो ये ढोल, मंजीरा, हुड़क आदि वाद्यों के साथ नृत्य करते हुए गाते है। कहरवा गीतों में श्रृंगार की प्रधानता पायी जाती है ।

धोबिया गीत– इस प्रकार के लोकगीत धोबी जाति के लोग ही गाते है । ये गीत भी कहरवा की भाँति कपड़ा धोते समय, शादी, पुत्र जन्म आदि पर गाये जाते हैं । इनमें करूणा, भक्ति और श्रृंगार का पुट रहता है ।

राष्ट्र एवं चरित्र निर्माण में लोक कलाओ का योगदान

श्राह के गीत– राह की थकान को कम करने के लिए जो गीत गाये जाते है उन्हें राहगीत कहते हैं । इन गीतों में सभी रसों का समायोजन होता है ।

आधुनिक यांत्रिक युग में श्रम गीतों की प्रसंगिकता, एक विचारणीय प्रश्न है । वस्तुतः अतीत में ही वर्तमान का बीज किसी न किसी रूप में छिपा रहता है । श्रमगीतों की जड़ें भी अतीत की गहराइयों में घुसी हुई हैं । इनके द्वारा हमें आर्यपूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है । श्रमगीातों में सामान्य जन–जीवन की आशा–निराशा, सुख–दुख, हास–उल्लास का सजीव चित्रण हुआ रहता है । जनता के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले ये गीत जनता की मूल्यवान सम्पत्ति है । अतीत को जाने बिना वर्तमान की सही पहचान नहीं हो सकती । श्रमगीतों में भारत के बहुसंख्यक समाज का यथातथ्य चित्रण उपलब्ध होता है । भारतीय जीवन की सच्ची कथा इन गीतों में चित्रित है । पारिवारिक जीवन के अनेकशः चित्र इन गीतों में रेखांकित हैं । सामाजिक अध्ययन के लिए अनेक उपयोगी सामग्री इन गीतों में संरक्षित है ।

श्रमगीत भोजपुरी लोक साहित्य के अभिन्न अंग हैं । भाषाविज्ञरन की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है । इनमें व्यवहृत शब्दों की निरूक्ति का पता करने पर भाषा शास्त्र सम्बधी अनेक गुत्थियों का समाधान पाया जा सकता है । अनेक शब्दों की विकास–परम्परा को समझनें तथा नए–नए शब्दों के सृजन में लोकगीत अत्यन्त सहायक हैं । इनमें विशाल शब्द सम्पत्ति छिपी पड़ी है, जिसका उपयोग राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में किया जा सकता है।

भोजपुरी लोकगीतों का भंड़ार बड़ ही विशाल है । उस विशाल भंड़ार में श्रमगीतों की संख्या सीमित है । यात्रिकीकरण के बढ़ते चरण से श्रम और श्रमगीतों पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं । श्रम के बदलते स्वरूप से इनके लुप्त होने की आशंका प्रबल हो गई है । सांस्कृतिक गीतों का सम्बन्ध धर्म से तथा सांस्कारिक गीातों का सम्बन्ध समस्त हिन्दू समाज से जुड़े होने के कारण इनकी जड़े ंअपेक्षाकृत अधिक गहरी और

पुष्ट हैं । श्रमगीत का क्षेत्र सीमित है और बदलते परिवेश में इनके गायन का अवसर भी न्यून होता जा रहा है । अतः श्रमगीातें को लिपिबद्ध करना सामायिक आवश्यकता है ।

भोजपुरी लोकगीातें के अभी तक जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उसमें श्रमगीतों की झलक मात्र ही देखने को मिलती है । लोकगीतों के प्रेमी विद्वानों ने सांस्कारिक और सांस्कृतिक लोकगीतों के संकलन में तो अपनी रूचि दिखायी है लेकिन श्रमगीतों के संकलन का कार्य उपेक्षित है । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि श्रम गीत ऐसे कंठों में संरक्षित हैं जो अशिक्षित हैं, संकुचित और संकोची मनोवृत्ति के हैं, पर्दा–प्रथा में जीते हैं और बिना उपयुक्त अवसर के गीतों की पुनरावृत्ति में असमर्थ है, हिचकते हैं । श्रमगीतों के संकलन हेतु दूर दराज के गाँवों में, खेतों पर पर्याप्त कष्ट सहकर जाना पड़ता है । अनेक बार पर्याप्त समय, श्रम और अर्थ व्यय करके भी कुछ हाथ नहीं लगता । लोग टालने का प्रयास कते हैं । ऐक्शन सांग के लिए उपयुक्त अवसर चाहिए, तभी सही रूप में गीत मिल पाते हैं ।

स्ंगीत एकालाप है लेकिन श्रमगीत समूह गान है । ऐसी दशा में स्त्रियों का समूह जुटाना और उन्हें श्रमगीतों की पुनरावृत्ति हेतु सहमत करना भी एक समस्या है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रमगीातें का संकलन बड़ा ही श्रमसाध्य कष्ट साध्य और अर्थ साध्य है । इस क्षेत्र में अपेक्षित कार्य न होने का दूसरा कारण यह है कि विद्वानों ने अभी तक इस ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया ।

आज जबकि श्रमगीतों के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया हो, लोककंठ में संचित समाज की यह अमूल्य धरोहर काल के प्रवाह के साथ लुप्त होने के कगार पर हो, इनका अनुरक्षण भारतीय समाज की अमूल्य निधि होगी, इसमें कोई संशय नहीं ।